त्रैमासिक • जनवरी-मार्च 2004 • दस रुपये

मुक्तिकामी छात्रों-नौजवानों की त्रैमासिक पत्रिका

आह्वान

कैम्पस टाइम्स

उम्मीद महज एक भावना नहीं है!

विश्व पूँजीवाद का नया 'ट्रोजन हॉर्स'

बर्बरों को नहीं चाहिए इतिहास

क्रान्ति योद्धा निकोलाई ओस्त्रोव्स्की और उसके सपने

उच्च शिक्षा का बाज़ार फार्मूला

शशि प्रकाश की कविता : अगर तुम युवा हो!

साम्राज्यवाद के रथ का चक्का अरब के रेगिस्तानों में फँसा

नववर्ष के अवसर पर छात्रों-युवाओं के लिए

धूल की जगह राख होना चाहूँगा मैं!
मैं चाहूँगा कि एक देदीप्यमान ज्वाला बन जाये भड़ककर मेरी चिनगारी
बजाय इसके कि सड़े काठ में उसका दम घुट जाये।
एक ऊँघते हुए स्थायी ग्रह के बजाय
मैं होना चाहूँगा एक शानदार उल्का,
मेरा प्रत्येक अणु उद्दीप्त हो भव्यता के साथ।
मनुष्य का सही काम है जीना, न कि सिर्फ जीवित रहना।
अपने दिन मैं बर्बाद नहीं करूँगा उन्हें लम्बा बनाने की कोशिश में।
मैं अपने समय का इस्तेमाल करूँगा।

• जैक लण्डन

नया वर्ष संकल्पों का!
नया दशक संघर्षों का!!
नयी सदी परिवर्तन की!!!

दिशा छात्र संगठन
नौजवान भारत सभा

आह्वान के बारे में कुछ महत्वपूर्ण विचारबिन्दु

भारतीय क्रान्ति का रास्ता मेहनतकश वर्गों के नेतृत्व में साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी क्रान्ति का रास्ता है। यह नई समाजवादी क्रान्ति का रास्ता है। यह शहीदे आज़म भगतसिंह का रास्ता है। क्रान्ति ही नाउम्मीदों की उम्मीद है। रसातल के अँधेरे में जीने वालों की ज़िन्दगी की रोशनी है। मृत्यु के अवसाद को तोड़ने वाला उत्सव का आह्लाद है। "आह्वान" इस तूफान का मुक्त कंठ से आह्वान करता है। "आह्वान" इस तूफान का आनन्द लेने के लिए सभी युवा तूफानी पितरेल पक्षियों का न्यौता देता है।

पूरा भारतीय समाज आज एक ज्वालामुखी के दहाने पर बैठा है। अब यह सच्चाई एकदम उजागर हो चुकी है कि रुग्ण-विकलांग, बूढ़ा-बौना भारतीय पूँजीवाद आम जनता को कुछ भी सकारात्मक नहीं दे सकता। मेहनतकशों की ज़िन्दगी को इसने लूटमार, उत्पीड़न-शोषण और असह्य पीड़ा-व्यथा के अँधेरे रसातल में ढकेल दिया है। अथाह दुखों के सागर में ऐश्वर्य के द्वीप और विलासिता की मीनारें, संसद में पूँजीपतियों की दलाल चुनावी पार्टियों के बहसबाजों की धींगामुश्ती, विदेशी लुटेरों को लूट की खुली छूट, भ्रष्टाचार के नित-निरन्तर भंग होते कीर्तिमान, संवेदनाओं को कुंद करती विकृत-बीमार साम्राज्यवादी-पूँजीवादी संस्कृति का धीमा जहर, संचार माध्यमों पर पूँजी की सर्वग्रासी पकड़, दिवालिया अर्थतंत्र, नंगा राजनीतिक तंत्र, बिकता न्याय, बेतहाशा महँगी होती जा रही निरर्थक अनुपयोगी-अवैज्ञानिक शिक्षा, मामूली चिकित्सा के अभाव में मरते लोग–यही आज का वह नारकीय सत्य है जिसे फिलहाल, हारी हुई मानसिकता के शिकार लोगों ने अपनी नियति मान लिया है। इसे बदलने का रास्ता क्रान्ति का रास्ता है। क्रान्ति कठिन है, क्रान्ति का रास्ता लम्बा है, ध्वंसकारी है, पर इसके बिना नये का निर्माण असम्भव है। यही आज का ठण्डा सत्य है–नंगा सत्य है–पर यही मुक्तिदायी सत्य है। यही 'आह्वान' का निर्भीक उद्घोष है।

इस अंक में

अपनी ओर से

उम्मीद महज एक भावना नहीं है! 5

सामयिकी

विश्व सामाजिक मंच: भूमण्डलीकरण के छद्म विरोध का नया प्रपंच 11

बर्बरों को नहीं चाहिए इतिहास 14

समाज

बाबा की लीला 18

शिक्षा

उच्च शिक्षा का बाज़ार-फार्मूला 20

विश्व पटल पर

साम्राज्यवाद के रथ का चक्का अरब के रेगिस्तानों में फँसा 24

स्मृति शेष

पिछड़े समाजों के प्रतिबद्ध अध्येता हमज़ा अलवी 27

टेढ़ी आँखें तिरछी नज़र

फटक चंद गिरधारी की टिप्पणियाँ 30

विरासत

निकोलाई ओस्त्रोव्स्की 32

मेरे सपने 38

साहित्य

कविता..... इच्छाधारी लोग 41

नयी कलम

कविता कृष्णपल्लवी की कविताएँ 42

सकर्मक विमर्श

छात्र-युवा कार्यकर्ताओं की टिप्पणियाँ 43

गतिविधि बुलेटिन

रपटें 51

आह्वान
कैम्पस टाइम्स

मुक्तिकामी छात्रों-नौजवानों की त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष-12, अंक-1, जनवरी-मार्च 2004

सम्पादक मण्डल
अभिनव
कविता
सज्जा
रामबाबू

एक प्रति का मूल्य
दस रुपए
वार्षिक
पचास रुपये
(डाक व्यय सहित)

सम्पादकीय कार्यालय: संस्कृति कुटीर कल्याणपुर, गोरखपुर-273001फोन 2241922

स्वत्वाधिकारी आदेश सिंह द्वारा कल्याणपुर, गोरखपुर से प्रकाशित एवं उन्हीं द्वारा आफसेट प्रेस, इलाहीबाग, गोरखपुर से मुद्रित

भगतसिंह ने कहा

''क्रान्ति करना बहुत कठिन काम है। यह किसी एक आदमी के ताकत के वश की बात नहीं है और न ही यह किसी निश्चित तारीख को आ सकता है। यह तो विशेष सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों से पैदा होती है और एक संगठित पार्टी को ऐसे अवसर को सँभालना होता है और जनता को इसके लिए तैयार करना होता है। क्रान्ति के दुस्साध्य कार्य के लिए सभी शक्तियों को संगठित करना होता है। इस सबके लिए क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं को अनेक कुर्बानियाँ देनी होती हैं।''

–भगतसिंह

('नवयुवक राजनीतिक कार्यकर्ताओं के नाम पत्र' से)

'आह्वान' के वर्ष 11 अंक 3 (जन.-मार्च, 2003) में गौरव के लेख 'नकली राष्ट्रवादियों की असली जन्मकुण्डली' मे छिपी वास्तविकताओं को सामने लाने का जोखिम भरा कार्य हुआ है। सागर तिवारी के सवाल बेचैन ही नहीं करते बल्कि आक्रोश पैदा करते हैं। अभिनव की रिपोर्ट नारीवाद का दम्भ भरने वाले प्रगतिशीलों को सोचने पर अवश्य ही विवश करेगी। अर्चना की जीवनशैली का साहस सामाजिक दबाव में कुचला गया। 'युवा-चिन्तन' स्तम्भ में अभिनव सिन्हा का लेख 'आज के भारत में अलगाव का सवाल' पत्रिका का सिरमौर लेख माना जा सकता है। पत्रिका के दायित्व का भी परिचायक है यह लेख। इस लेख के लिए लेखक, लोग प्रकाशन के लिये सम्पादक को धन्यवाद देता हूँ। मार्क्स की 'सेल्फ-एलियनेशन' की 'फ़िलॉसफ़ी' समझने, विचारने जैसी है। अभिनव सिन्हा ने सही कहा है कि आज की पीढ़ी में क्लासिक पुस्तकें पढ़ने की परम्परा समाप्त प्राय हो चुकी है। ऐसे में इस आलेख से प्रेरणा मिल सकती है। सचमुच पत्रिका इस आलेख से अन्य पत्रिकाओं की तुलना में वैचारिक स्तर पर उच्च स्थान पा गई है। मैं अपनी तरफ से अधिक लोगों को इस लेख को पढ़ाने का प्रयास करूँगा।

-अरुण पाराशर 'बारना'
कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

■ पाठक मंच

महोदय,

दिल्ली पुस्तक मेले में आपकी पत्रिका का एक अंक प्राप्त हुआ था। पढ़कर खुशी हुई कि शहीद भगतसिंह के सपनों को साकार करने के लिए जुझारू नौजवानों को संगठित करने का प्रयास आपके स्तर से किया जा रहा है। मुझे आपके अभियान से जुड़कर बहुत प्रसन्नता होगी।

पत्रिका के लिए एक गीत-रचना प्रेषित है :

ओ भूखे-नंगे इंसानो!

ओ भूखे नंगे इन्सानो, दुश्मन और दोस्त को पहचानों।
कुछ अपनी हालत को देखो कुछ हाल वतन के भी जानो।।
जब भूख सताती है तुमको हाथों को मिलता काम नहीं
यदि मिल भी जाये काम कहीं, मिलता है वाजिब दाम नहीं
तब पण्डित पेट नहीं भरता, मुल्ला आता है काम नहीं।
फिर क्यों मन्दिर के लिये लड़ो क्यों मस्जिद का फ़तवा मानो।
ओ भूखे नंगे इन्सानों
वे धर्म धुरन्धर ढोंगी हैं, पूँजी के हैं ये सच्चे प्यादे
जो धर्मराज दिखते तुमको, करते हैं मन्दिर के वादे
वे मन्दिर नहीं बनायेंगे, घर भले तुम्हारे ही ढहा दें।
उनकी करतूतों को देखो उनकी नीयत को पहचानो।
ओ भूखे नंगे इन्सानो।
वे मुँह में राम-राम जपते, हाथों में रखते एटमबम
बातें करते हैं बड़ी-बड़ी हिम्मत है लेकिन सबसे कम
ऐसे हैं वाग्वीर जिनके घुटनों में नहीं रहा है दम
उनको नंगा हो जाने दो उनके नेकर को मत थामो।
ओ भूखे नंगे इन्सानो।
तुम देखोगे उनके अन्दर है देशभक्ति का नाम नहीं
अमरीका बहुत सुहाता है मिलता उनको आराम वहीं
बुश बड़े देवता हैं उनके, कोई स्वदेशी राम नहीं
डालर दुलारता है उनकी यह सच है सच को सच मानो।
ओ भूखे नंगें इन्सानो।
अमरीका पर आफत आये सबसे पहले हम ठोकेंगे
ये ऐसे स्वामिभक्ति दास मालिक से पहले दौड़ेंगे
अमरीका माँगें खून अगर बोलेंगे पहले हम देंगे
वे जंगख़ोर बर्बादी का भी जश्न मनायेंगे मानो।
ओ भूखे नगें इन्सानो।
सरहद पर जंग लड़ी तुमने प्राणों की दी कुर्बानी है
अर्थी पर वोट बटोरे वे मर गया आँखें का पानी है
खा गये कमीशन कफ़नखोश कहते कँप कँपाती वाणी है
यूँ कब तक सहन करोगे तुम कुछ तो बोलो ऐ मर्दानो।
ओ भूखे नंगे इन्सानो।
धर्मोन्मादी आँधी हो या युद्धों की कोई बिसात
जीवन में सुबह नहीं लाती गहराती लम्बी स्याह रात
ओ मेहनतकश इन्सान उठो तुम तो उनके ही नहीं साथ
हर जोर जुल्म से टकराओ फिर इन्कलाब के स्वर तानो।
ओ भूखे नंगे इन्सानों, दुश्मन और दोस्त को पहचानो
कुछ अपनी हालत को देखो, कुछ हाल वतन के भी जानो।।

–अमरनाथ 'मधुर'
ग्रा. व पो.-परीक्षित गढ़ जिला-मेरठ (उ.प्र.)

(शेष पृ. 26 पर)

साथियो,

'आह्वान' का यह अंक, तीन अंकों के अन्तर के बाद प्रकाशित हो पा रहा है, जिसका हमें खेद है। इसके नियमित प्रकाशन के लिए हम एक बार फिर संकल्पबद्ध हैं, लेकिन इसके लिए हमें आप सभी के सक्रिय सहयोग की सख़्त जरूरत है।

'आह्वान कैम्पस टाइम्स' सारे देश में चल रहे वैकल्पिक मीडिया के प्रयासों की एक कड़ी है। हम सत्ता प्रतिष्ठानों, फण्डिंग एजेंसियों, पूँजीवादी घरानों, एवं चुनावी राजनीतिक दलों से किसी भी रूप में आर्थिक सहयोग लेना घोर अनर्थकारी मानते हैं। जनता की वैकल्पिक मीडिया सिर्फ जन संसाधनों के बूते खड़ा किया जाना चाहिए–हमारी यह दृढ़ मान्यता है। अतः हम अपने सभी पाठकों-शुभचिन्तकों -सहयोगियों से अपील करते हैं कि वे अपनी ओर से अधिकतम संभव आर्थिक सहयोग भेजकर परिवर्तन के इस हथियार को मजबूती प्रदान करें।

आह्वान का यह अंक बावन पृष्ठों का है। अगले अंक से यह नियमित रूप से अड़तालीस पृष्ठों का प्रकाशित होगा। बढ़े हुए पृष्ठों के चलते अब पत्रिका का मूल्य दस रुपये होगा। डाक से पत्रिका मँगाने वालों के लिए वार्षिक सदस्यता राशि (डाक व्यय सहित) पचास रुपये रखी गयी है।

हमें विश्वास है कि आपका सहयोग बना रहेगा।

–सम्पादक

उम्मीद महज एक भावना नहीं है!

इस रात्रि श्यामला बेला में
आगामी प्रातों की ओस सुगन्धित है।
क्या करूँ कि मुझको ओस कणों में
लाल ज्योति दिखती
मानो वे शत-शत रुधिर-बिन्दु थरथरा रहे
उनकी प्रदीप्त किरनों को गिनने का
यत्न कर रहा हूँ।

(मुक्तिबोध)

हमारा यह विश्वास हज़ारों वर्षों के वर्ग-संघर्षों के प्रदीर्घ इतिहास से, सैकड़ों वर्ष के पूँजीवाद के इतिहास से और पूँजीवाद-विरोधी मज़दूर क्रान्तियों के विगत चक्र के सकारात्मक-नकारात्मक अनुभवों से निःसृत है कि पृथ्वी के अरबों आम लोग पूँजी के जुए तले पिसते हुए यूँ ही अकर्मण्यता और निराशा के अँधेरे दलदल में सिर गड़ाये पड़े नहीं रहेंगे। विश्व-पूँजीवाद की आर्थिक बुनियाद खोखली हो चुकी है। अपनी जड़ता की शक्ति के सहारे यह इतिहास की राह में पूरी ताकत झोंककर अड़ा हुआ है, लेकिन वह ताकत लगातार क्षरित हो रही है। इसकी मूल ताकत यह है कि पराजय की चोट से बिखरी हुई परिवर्तनकामी शक्तियाँ अभी नयी परिस्थितियों की सुसंगत समझदारी बनाकर नये सिरे से एकजुट और लामबन्द नहीं हो सकी हैं। मुक्ति की नयी परियोजनाएँ अभी निर्माणाधीन हैं। निश्चय ही, यह प्रक्रिया लम्बी और श्रमसाध्य होगी। लेकिन उतना ही बड़ा सच यह है कि यह अवश्यम्भावी है।

यह उम्मीद महज एक भावना नहीं है। उम्मीदें वास्तविक तभी होती हैं, जब उनका एक विज्ञान होता है। प्लेख़ानोव ने लिखा है कि जनसमुदाय से कटे हुए बुद्धिजीवी हवाई, अतिशयतावादी, गुलाबी उम्मीदों के आदी होते हैं। जनता को क्रान्तिकारी चेतना देने और उसके जीवन से घनिष्ठता के साथ एकरूप होकर उसके राजनीतिक संघर्षों को आगे विकसित करने का प्रदीर्घ, श्रमसाध्य काम उन्हें उबाऊ प्रतीत होता है। ऐसे लोग सामाजिक क्रान्तियों की जटिल समस्याओं को समझे बगैर क्रान्तियों की हर विजय पर कोलाहलपूर्ण जयनाद करते हैं और क्रान्तिकारियों की भावविह्वल अभ्यर्थना करते हैं। और जब पराजय और अँधेरे की शक्तियों के पुनरुत्थान के दौर आते हैं तो अँधेरे बन्द कमरों में वे शोकाकुल विलाप करने लगते हैं, क्रान्तिकारियों को कोसने लगते हैं और परिवर्तन के हर प्रयास-प्रयोग की अवश्यम्भावी विफलता की भविष्यवाणी करते हुए रक्तपायी वर्गों के शरणागत होकर जीने लगते हैं। परिवर्तनकामी युवाओं को ऐसे बुद्धिजीवियों की छाया तक से दूर रहना होगा। उन्हें इतिहास-निर्मात्री जनता से सीखना होगा, जनता का आदमी बनना होगा और अपनी हिरावल भूमिका की श्रमसाध्य तैयारी करनी होगी। उन्हें हवाई आशावादी नहीं, बल्कि वैज्ञानिक आशावादी बनना होगा।

इस दृष्टि से हम यहाँ भावी क्रान्ति की तैयारी की राह की कुछ बुनियादी बाधाओं, समस्याओं और चुनौतियों की चर्चा करेंगे।

●

ठहराव और विपर्यय के प्रतिक्रियावादी कालखण्डों में, क्रान्तिकारियों की नयी पीढ़ियों के सामने प्रायः एक समस्या यह आती है कि अतीत की सफल और महान क्रान्तियों की स्मृतियाँ एकतरह की रूढ़िबद्धता और इतिहासग्रस्तता की प्रवृत्ति को जन्म देती हैं। नयी पीढ़ी के क्रान्तिकारी अपने महान पूर्वजों की छाया में चलते हुए भविष्य की मंज़िलें तय करना चाहते हैं, इतिहास से सीखकर वर्तमान का अध्ययन करने और भविष्य के मार्ग का संधान करने के बजाय इतिहास का अन्धानुसरण करना चाहते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि यह मार्ग सरल-संक्षिप्त प्रतीत होता है और इसलिए भी होता है कि अपरिपक्वता के चलते महान क्रान्तियों के प्रखर आलोक से हमारी आँखें चुँधिया जाती हैं। मुक्ति की नयी परियोजना की तैयारी और

व्यवहार के लिए इस अनुकरणवादी मानसिकता से मुक्त होना होगा, और प्रयोगों के दौरान होने वाली स्वाभाविक गलतियों का जोखिम मोल लेने के लिए क्रान्तिकामी युवाओं को तैयार होना होगा।

निश्चय ही, इतिहास-निषेधी प्रवृत्ति का शिकार होना भी एक दूसरी अति होगी और यह भी उतनी ही बड़ी गलती होगी। हमें परम्परा और परिवर्तन के द्वंद्वात्मक अन्तर्सम्बन्ध को सही ढंग से समझना होगा। इतिहासग्रस्तता और इतिहास-निषेध की दो अतियों से–यानी जड़सूत्रवाद और "मुक्त चिन्तन", दोनों से ही बचते हुए, हमें वास्तविक इतिहास-बोध से लैस होना होगा।

बहुत कुछ ऐसा है, जो अतीत की सामाजिक क्रान्तियों और वर्ग-संघर्ष के समूचे इतिहास के अध्ययन के बिना जाना-समझा ही नहीं जा सकता। समाज की बुनियादी आर्थिक संरचना और सामाजिक-सांस्कृतिक-वैचारिक-राजनीतिक-वैधिक ऊपरी ढाँचे की गति के कुछ आम नियम है, जो वर्ग-समाज के सम्पूर्ण इतिहास की शिक्षा हैं और ये नियम तबतक प्रभावी बने रहेंगे जब तक वर्ग-समाज मौजूद रहेगा। कुछ सामान्य उदाहरणों से हम बात को स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे। (क) अबतक का ज्ञात इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है और जबतक वर्गों का अस्तित्व बना रहेगा, वर्ग-सघर्ष ही इतिहास-विकास की कुंजीभूत कड़ी बना रहेगा। (ख) हर शासक-शोषक वर्ग राज्यसत्ता को बल-प्रयोग के केन्द्रीय साधन के रूप में इस्तेमाल करके अपने शोषण-शासन का कायम रखता है, हर राज्यसत्ता का एक वर्ग-चरित्र होता है और बल प्रयोग के इस उपकरण को जनता बल प्रयोग के द्वारा ही–यानी सामाजिक क्रान्तियों के द्वारा ही ध्वंस कर सकती है। (ग) उत्पादन के सम्बन्ध जब उत्पादक शक्तियों के विकास की राह में बाधा बन जाते हैं तो उत्पादक शक्तियाँ उन्हें नष्ट करके नये, अनुकूल उत्पादन-सम्बन्ध कायम करती हैं–यह सामाजिक क्रान्तियों की अपरिहार्यता का मूल सूत्र है।–ये कुछ ऐसे सामान्य विकास के नियम हैं जो वर्ग समाज के सुदूर अतीत से सुदूर भविष्य तक की अतिदीर्घ ऐतिहासिक अवधि पर लागू होते हैं।

इसी प्रकार कुछ ऐसे आम नियम हैं जिनकी प्रासंगिकता तबतक बनी रहेगी जबतक पूँजीवाद किसी न किसी रूप में धरती पर मौजूद रहेगा। (क) पूँजीवाद का खात्मा केवल सर्वहारा वर्ग और उसके नेतृत्व में सम्पन्न सर्वहारा क्रान्ति के द्वारा ही सम्भव होगा। (ख) हर तरह का पूँजीवादी जनवाद पूँजीपति वर्ग का अधिनायकत्व होता है और इसका एकमात्र ऐतिहासिक विकल्प समाजवादी जनवाद होता है जो सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व होता है (ग) सर्वहारा क्रान्ति सर्वहारा वर्ग की एक एकीकृत पार्टी के नेतृत्व में ही सम्भव है और इस पार्टी के ढाँचे और कार्यप्रणाली के कुछ आम नियम हैं जो अतीत के मज़दूर संघर्षों से पैदा हुए हैं तथा मज़दूर क्रान्तियों के प्रयोगों से सत्यापित और समृद्ध हुए हैं। (घ) सर्वहारा वर्ग का ऐतिहासिक मिशन पूँजीवाद के नाश के साथ ही वर्ग समाज के इतिहास से वर्गविहीन समाज में संक्रमण का हरावल बनना भी है, यह इतिहास का अंतिम और सर्वाधिक प्रगतिशील वर्ग है तथा सर्वहारा क्रान्तियाँ इतिहास की प्रथम और अन्तिम सचेतन संगठित क्रान्ति है। (ङ) समाजवाद वर्ग-समाज से वर्ग विहीन समाज में संक्रमण की, हार-जीत से भरी हुई एक सुदीर्घ ऐतिहासिक अवधि है, कम्युनिज़्म में संक्रमण की उन्नत अवस्था में वर्गों के विलोपन के साथ ही राज्यसत्ता के विलोपन की भी प्रक्रिया घटित होगी।– ये कुछ ऐसे सामान्य सूत्र हैं जो उससमय तक प्रासंगिक बने रहेंगे, जबतक पूँजीवाद का अस्तित्व बना रहेगा (समाजवादी संक्रमण के दौरान भी)।

कुछ ऐसे आम नियम हैं जो साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्तियों के पूरे वर्तमान युग के जारी रहने तक प्रासंगिक बने रहेंगे। साम्राज्यवाद पूँजीवाद की चरम अवस्था है। उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के सन्धि-स्थल पर उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली में कई महत्वपूर्ण बुनियादी, संरचनागत बदलाव आये, जिन्होंने पूरी दुनिया की राजनीति में काफी कुछ बदल डाला। उत्पादक शक्तियों के विकास के क्षेत्र में, उत्पादन के संकेन्द्रण के उच्च स्तर ने पूँजीवादी इजारेदारियों (एकाधिकारियों) को जन्म दिया और उत्पादन-सम्बन्धों के क्षेत्र में इन इजारेदारियों के प्रभुत्व की स्थापना हुई। "साम्राज्यवाद, पूँजीवाद के विकास की वह अवस्था है, जिसमें पहुँचकर इजारेदारियों और वित्त पूँजी का प्रभुत्व दृढ़ रूप से स्थापित हो चुका है, जिसमें पूँजी का निर्यात अत्यधिक महत्व ग्रहण कर चुका है, जिसमें अन्तरराष्ट्रीय ट्रस्टों के बीच दुनिया का बँटवारा प्रारम्भ हो गया है, जिसमें सबसे बड़ी पूँजीवादी ताकतों के बीच पृथ्वी के समस्त क्षेत्रों का बँटवारा प्रारम्भ हो चुका है" (लेनिन)। अर्थव्यवस्था की इजारेदारी की प्रवृत्ति पूँजीवाद के विकास की सबसे ऊँची और अन्तिम अवस्था के रूप में, गतिरुद्ध, परजीवी और मरणोन्मुख पूँजीवाद के रूप में, साम्राज्यवाद का ऐतिहासिक स्थान निर्धारित करती है। असमान विकास, अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतियोगिता और बीच-बीच में युद्धों के रूप में उसका विस्फोट, बुर्जुआ जनवाद का क्षरण-विघटन, अर्थव्यवस्था का सैन्यीकरण आदि परिघटनाएँ साम्राज्यवादी युग की कुछ आम अभिलाक्षणिकताएँ हैं। इजारेदारी के फलस्वरूप उत्पादन का अधिकाधिक समाजीकरण होता चला जाता है और पूँजीवाद के भीतर समाजवाद का पूर्वाधार तैयार होता चला जाता है। पूँजी और श्रम के बीच ध्रुवीकरण बढ़ता चला जाता है और वर्ग-अन्तरविरोधों की उग्रता बढ़ती चली जाती है।

आज भी हम साम्राज्यवाद के युग में ही जी रहे हैं। लेकिन विगत एक शताब्दी के दौरान साम्राज्यवाद, यथावत, उसी रूप में मौजूद नहीं बना रहा है। उत्पादन की प्रणाली, शासन की प्रणाली और अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में ऐसे कई महत्वपूर्ण बदलाव आये हैं, जिनके चलते मज़दूर क्रान्तियों के अगले चक्र की रणनीति और आम रणकौशलों में, विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा और स्वरूप में लाजिमी तौर पर कुछ परिवर्तन होने ही हैं।

अतीत के वर्ग संघर्षों के समूचे इतिहास, सभी सर्वहारा आन्दोलनों और सभी सर्वहारा क्रान्तियों के अनुभवों के सारतत्व का आम सूत्रीकरण विचारधारा के रूप में संघटित होता है जो प्रत्येक क्रान्ति के मार्गदर्शक सिद्धान्त का काम करता है। जहाँ तक ठोस रूप में किसी क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल का प्रश्न है, उनका निर्धारण प्रत्येक देश और काल की ठोस परिस्थितियों के अध्ययन के हिसाब से होता है। परिस्थितियाँ सतत् परिवर्तनशील होती

हैं। इतिहास के एक ही काल में अलग-अलग देशों में सामाजिकार्थिक विकास के स्तर के हिसाब से अलग-अलग श्रेणियों के देशों में क्रान्ति की मंजिलें और रणनीतियाँ अलग-अलग होती हैं। यहाँ तक की समान श्रेणी और क्रान्ति की समान मंज़िल वाले देशों में भी क्रान्ति की रणनीति में आंशिक, मात्रात्मक भिन्नताएँ और रणकौशलों के स्तर पर महत्वपूर्ण भिन्नताएँ अनिवार्यतः होती हैं। सामाजिक-आर्थिक संरचना के स्तर पर समानता रखने वाले देशों में भी क्रान्तियों की आम दिशा समान हो सकती है, लेकिन फिर भी ऐसी कोई एक क्रान्ति दूसरी क्रान्ति की कार्बन-कापी नहीं हो सकती।

यदि समाज- इतिहास की और उसकी विकास-प्रक्रिया की हमारी समझ कमज़ोर होगी, यदि क्रान्ति के विज्ञान की हमारी जानकारी ग़लत, उथली या अधूरी होगी, यदि ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण के श्रमसाध्य काम से हमारे अन्दर बचने की प्रवृत्ति होगी, तो हमारे भीतर अतीत की क्रान्तियों से सीखने की क्षमता भी नहीं होगी। तब एक सरल-संक्षिप्त राह हम यह चुनेंगे कि परिस्थितिगत परिवर्तनों की अनदेखी करके अतीत की महान क्रान्तियों का अन्धानुकरण करेंगे, प्रासंगिक-अप्रासंगिक के बीच भेद नहीं करेंगे और जड़सूत्रवादी बन जायेंगे। तब हम सम्पन्न क्रान्तियों की रणनीति एवं आम रणकौशल को भी विचारधारा या आम सिद्धान्त बना देंगे।

यह चर्चा हम यहाँ महज आम सिद्धान्त-निरूपण के रूप में नहीं कर रहे हैं। यह हमारे समय की एक ठोस समस्या है। क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए सक्रिय लोग, चाहे वे मजदूरों-किसानों को संगठित करने के काम में लगे हो या छात्रों-युवाओं के मोर्चे पर काम कर रहे हों या किसी और मोर्चे पर, उनके बीच आज यह आम समस्या मौजूद है कि समाज में क्रान्तिकारी बदलाव की परियोजना पर सोचते और अमल करते समय वे गत शताब्दी की क्रान्तियों के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति से कमोबेश ग्रस्त दिखायी देते हैं। निस्सन्देह, विभ्रम पैदा करने वाले कुछ निठल्ले ''मुक्तचिन्तक'' भी मौजूद हैं, लेकिन निठल्ले काम करने वालों को तभी प्रभावित करते हैं, जब उनकी वैचारिक समझ कमजोर हो। हमारी यह चर्चा क्रान्तिकारी परिवर्तन की भावना से लैस युवा साथियों को कुछ बोझिल जरूर लग रही होगी, लेकिन इन मसलों पर एक सुनिश्चित समझ बनाना अनिवार्य है। दिशाहीन विद्रोहों-आन्दोलनों में जी-जान से लगे रहने पर भी समाज नहीं बदल सकता। क्रान्ति एक वैज्ञानिक क्रिया है। छात्र-युवा आन्दोलन समग्र सामाजिक क्रान्ति का एक हिस्सा है। छात्र-युवा जिस समाज में रहते हैं, उसके ढाँचे एवं कार्यप्रणाली को उन्हें समझना होगा। किन वर्गों का हित क्रान्ति में है, किन वर्गों का हित इस व्यवस्था में है, किन-किन तरीकों से उत्पादन होता है और उस दौरान किस प्रकार शोषण होता है, राजनीति-संविधान-कानून व्यवस्था और सैन्य तंत्र किस प्रकार शोषण की पूरी व्यवस्था की हिफाजत करते हैं, देशी लुटेरों के विदेशी लुटेरों से आर्थिक-राजनीतिक सम्बन्धों की प्रकृति क्या है, आम जनता की जीवन-स्थिति और चेतना का धरातल क्या है–इन सभी चीज़ों को भली-भाँति जाने-समझे बगैर न तो छात्र-युवा आन्दोलन को सही दिशा दी जा सकती है, न ही उसे व्यापक मेहनतकश जनता के क्रान्तिकारी संघर्षों से जोड़ा जा सकता है और न ही कोई युवा साथी मेहनतकश आबादी के किसी हिस्से के बीच जाकर उसे जागृत और संगठित करने के काम को ही सफलतापूर्वक अंजाम दे सकता है।

चुनावी राजनीति के द्वारा इसी व्यवस्था में सुधार और पैबन्द लगाने की कोशिश करने वालों तथा फैशनेबुल वाग्विलासी "क्रान्तिकारियों" से अलग, कई क्रान्तिकारी धाराएँ और प्रवृत्तियाँ देश की परिस्थितियों और क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशलों के बारे में अलग-अलग समझ के साथ मौजूद हैं। एक सही समझ ही अन्ततोगत्वा सफलता की मंजिल तक पहुँचा सकती हैं। आँख मूँदकर, या महज इस आनुभविक प्रेक्षण के आधार पर कि कौन अधिक जुझारू, ताकतवर या सफल दीख रहा है, या किसके द्वारा प्रस्तुत योजना-परियोजना अधिक सुगम एवं आकर्षक है, छात्रों-युवाओं का क्रान्तिकारी राजनीति की किसी एक धारा से जुटना एकदम ग़लत होगा। सही मार्ग प्रायः सुगम-संक्षिप्त नहीं होता और सफलता कभी भी मौलिक प्रयोगों एवं विफलता के बगैर हासिल नहीं होती। इसलिए छात्र-युवा साथियों को क्रान्तियों के विश्व इतिहास और भारतीय इतिहास का अपने तईं अध्ययन करना होगा, सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन करना होगा तथा अपने सामने मौजूद सभी क्रान्तिकारी कार्यक्रमों का अध्ययन करके निर्णय लेना होगा कि कौन सा विकल्प सापेक्षतः अधिक तर्कसंगत, अधिक वैज्ञानिक और सामाजिक सच्चाइयों के अधिक अनुरूप प्रतीत हो रहा है। साथ ही, उन्हें छात्रों-युवाओं को संगठित करने और आन्दोलनों में भागीदारी के अनुभव अर्जित करने होंगे तथा समय निकालकर मेहनतकश आम आबादी के बीच भी जाना होगा, उनके जीवन को समझना होगा, उनका अपना आदमी बनना होगा, उनकी सेवा करनी होगी, उनसे सीखना होगा, फिर उन्हें सिखाना होगा, उन्हें राजनीतिक शिक्षा देनी होगी और यथासम्भव उनके संघर्षों-आन्दोलनों में भी शिरकत करनी होगी। इस सूत्र को कभी नहीं भूला जाना चाहिए कि 'चीजों को बदलने के लिए चीजों को समझना होगा और चीज़ों को बदलने की प्रक्रिया में ही स्वयं को बदलना होगा।'

●

भावी क्रान्ति की तैयारियों की राह की आज एक बुनियादी समस्या यह है कि ज्यादातर उन्हें पुरानी क्रान्तियों के साँचे में ही ढालने की कोशिशें की जा रही हैं। जीवन की नयी सच्चाइयाँ यदि एकदम आँखों में घूरने लगती हैं तो उन्हें काट-पीटकर फराने चौखटे में ही फिट कर देने की कोशिश की जाती है, या फिर पूरे चौखटे को बदलने के बजाय उसे थोड़ा खींच-तान कर और काट-पीटकर नई सच्चाइयों को समायोजित कर लेने की विफल कोशिशें, जन-कार्रवाइयों और छोटे-मोटे आन्दोलनों की रुटीनी कवायदों के साथ जारी रहती हैं।

वर्तमान परिस्थितियों और इतिहास के अपने अध्ययन के आधार पर और सीमित व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर हमारी यह पक्की धारणा है कि पूरी दुनिया और भारत देश के स्तर पर आज परिस्थितियों में कुछ ऐसे बदलाव आ चुके हैं कि भावी क्रान्तियों की

आम दिशा, रणनीति एवं आम रणकौशल पिछली शताब्दी की मजदूर क्रान्तियों से भिन्न होंगे। निस्संदेह अतीत की क्रान्तियों की आम दिशा और रणनीति एवं आम रणकौशल से सीखे बगैर हम आगे बढ़ नहीं सकते। उनमें काफी कुछ सीखने को है और क्रान्तियों के इतिहास का गहन अध्ययन जरूरी है, लेकिन वर्तमान सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक स्थितियों का भी नये सिरे से अध्ययन करना होगा, क्योंकि इनमें हुए कई परिवर्तन बुनियादी प्रकृति के हैं। फरानी क्रान्तियों का कार्यक्रमपरक चौखटा आज के लिए फराना पड़ चुका है। इसकी विस्तृत चर्चा तो यहाँ सम्भव नहीं है, लेकिन कुछ संक्षिप्त-सूत्रवत् चर्चा के बगैर बात स्पष्ट भी नहीं हो पायेगी।

यह सही है कि आज भी हम साम्राज्यवाद के युग में ही जी रहे हैं और मजदूर क्रान्ति के प्रथम संस्करणों की विफलता के बावजूद, विश्व-अर्थव्यवस्था का अध्ययन हमें इसी नतीजे पर पहुँचाता है कि उत्पादन के पूर्वापेक्षा कई गुना अधिक समाजीकरण की बदौलत समाजवाद का वस्तुगत आधार आज पहले से भी अधिक व्यापक एवं दृढ़ रूप में तैयार हो रहा है। यानी यह सूत्रीकरण आज की दुनिया पर भी लागू होता है कि साम्राज्यवाद सर्वहारा क्रान्ति की पूर्वबेला है। एक परिवर्तन आज यह हुआ है कि विश्वव्यापी मन्दी और ठहराव का जो संकट पहले आवर्ती चक्रीय क्रम में आता रहता था और पूँजीवाद को सताता रहता था, वह आज दीर्घकालिक ढाँचागत संकट का रूप ले चुका है और यह ऐतिहासिक सच्चाई आज पूर्वापेक्षा अधिक मूर्त और बोधगम्य रूप में हमारे सामने है कि साम्राज्यवाद मरणोन्मुख और परभक्षी पूँजीवाद है। इतिहास की एक नयी शिक्षा यह है कि पूँजीवाद के वार्धक्य या मरणोन्मुखता के वर्ष इसके यौवन के वर्षों से काफी अधिक लम्बे हैं।

साम्राज्यवाद की आम बुनियादी अभिलाक्षणिकताओं की आज भी मौजूदगी के बावजूद इसकी कार्यप्रणाली में और पूँजीवादी विश्व की संरचना में आज कुछ ऐसे महत्वपूर्ण बदलाव आये हैं, जिनके चलते क्रान्तिकारी वस्तुगत परिस्थितियों वाले देशों में सर्वहारा क्रान्ति की मंजिल, उसकी रणनीति और आम रणकौशल में मूलभूत परिवर्तन आ गये हैं। पूँजीवादी वैश्विक इजारेदारियों के, फराने ट्रस्टों और सिण्डीकेटों की जगह, नये-नये रूप पैदा हुए हैं। दैत्याकार राष्ट्रपारीय निगम दुनिया भर के देशों में इस प्रकार फैल गये हैं कि लगता है मानो उनका कोई राष्ट्रीय मूल ही नहीं है। लेकिन विश्व-बाजार में इन निगमों के हितों का प्रतिनिधित्व इनके मूल देशों की राज्यसत्ताएँ ही मुख्यतः करती हैं। वित्तीय पूँजी का भूमण्डलीय निर्बंध आवागमन पहले की अपेक्षा अत्यधिक निर्बंध और क्षिप्र हो गया है। आर्थिक उत्पादन के विकास की कारगरता एवं दर-वृद्धि करने तथा मशीनों की उत्पादकता बढ़ाकर मजदूरों से अतिलाभ निचोड़ने की प्रक्रिया को अभूतपूर्व ऊँचाइयों तक पहुँचाने के साथ ही वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्ति ने, और विशेषकर स्वचालन के नये स्तर एवं संचार क्रान्ति ने, वित्तीय पूँजी के भूमण्डलीय प्रवाह की गति तेज करने में एक अहम भूमिका निभाई है। जिसे आज भूमण्डलीकरण कहा जा रहा है, वह वस्तुतः वित्तीय पूँजी का भूमण्डलीकरण है, क्योंकि श्रम के मुक्त भूमण्डलीय आवगमन की राह में तो पहले से भी अधिक बाधाएँ खड़ी कर दी गयी हैं।

बुनियादी आवश्यकता की चीजों और सेवाओं का उत्पादन करने वाली वास्तविक अर्थ-व्यवस्था पर आज विश्व स्तर पर इजारेदार घरानों का एक अत्यन्त छोटा हिस्सा काबिज है। यह वास्तविक अर्थव्यवस्था अतिलाभ निचोड़ने के साथ ही नीचे की आबादी की आय पर एक निश्चित सीमा बाँध देती है। इससे चीजों के उत्पादन की क्षमता बढ़ाकर लाभ कमाने की गुंजाइश कम हो जाती है और एकाधिकारी घराने वित्तीय गतिविधियों में पूँजी लगाना शुरू कर देते हैं। 1970 के दशक में विश्व अर्थव्यवस्था में ठहराव आने पर यही हुआ। परम्परागत वित्तीय गतिविधियाँ भी चूँकि ठहराव के इस दौर में धीमी पड़ गयी थीं, इसलिए वित्तीय संचालक ज्यादा से ज्यादा सट्टेबाजी की गिरफ्त में फँसते चले गये। अर्थव्यवस्थाओं में ऋण की भूमिका पूर्वापेक्षा बहुत अधिक बढ़ गयी थी। ऋण की आसमान छूती माँग के दबाव में मुद्रा-बाजारों का अभूतपूर्व विस्तार हुआ और सट्टेबाजी के लिए दरवाजे पूरी तरह से खुल गये। गतशताब्दी के अंतिम दशक तक स्थिति यह हो गयी कि चीजों और सेवाओं का उत्पादन करने वाली वास्तविक अर्थव्यवस्था में लगी हुई पूँजी के मुकाबले वित्तीय पूँजी का अनुपात कई गुना अधिक हो गया। वास्तविक उत्पादन की प्रक्रिया से स्वतंत्र वित्तीय पूँजी, और गुब्बारे की तरह फूलता हुआ तथा पारे की तरह अस्थिर वित्तीय तंत्र अस्तित्व में आया। गत साम्राज्यवादी शताब्दी के पचहत्तर वर्षों तक, सट्टेबाजी यदि वास्तविक उत्पादन की लहर पर बुलबुले के समान थी तो अब वास्तविक उत्पादन सट्टेबाजी की लहर पर बुलबुले के समान हो गया है। पहली बार ऐसा हुआ है कि पूँजी संचय पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की चालक शक्ति और वास्तविक अर्थव्यवस्था का बुनियादी कारक-संकेतक नहीं रह गया है। वास्तविक उत्पादन क्षेत्र की सतत मन्दी की स्थिति में, मुनाफे की वृद्धि दर को तेज करते जाने की अंधी प्रतियोगिता में पूँजी विभिन्न देशों के सट्टाबाजारों में निवेशित होकर अर्थव्यवस्था की मजबूती एवं विकास का भ्रम रचती है और फिर बेहतर विकल्प दिखायी पड़ते ही वहाँ से 'उड़नछू' हो जाती हैं। नतीजतन वे अर्थव्यवस्थाएँ ध्वस्त हो जाती हैं। मुनाफे की अंधी होड़ के चलते, दुनिया के पिछड़े देशों में वास्तविक अर्थव्यवस्था में निवेश की गुंजाइश होते हुए भी साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धी आनन-फानन में एक-दूसरे से आगे निकलने की होड़ में वित्तीय बाजार में निवेश को ही प्राथमिकता देते हैं।

यूँ तो बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दशकों में, इजारेदारियों के प्रमुख और वित्तीय पूँजी के प्रभुत्व के साथ ही, बुर्जुआ जनवाद का प्रतिक्रियावादी पहलू प्रधान बन गया था और उसके भीतर फासीवादी धाराओं का उभार होने लगा था। अब आज वित्तीय पूँजी के 'चरम वर्चस्व' की स्थिति ने बुर्जुआ जनवाद के क्षरण-विघटन को विश्व स्तर पर उस मुकाम पर ला खड़ा किया है कि बुर्जुआ जनवाद और फासीवाद के बीच की विभाजक रेखाएँ ही धूमिल पड़ने लगी हैं। साम्राज्यवाद ने पहले दशकों तक उत्पादन की विकास-दर और मज़दूरों का शोषण बढ़ाने तथा पूँजी और श्रम के तीखे होते

(शेष पृष्ठ 48 पर)

अगर तुम युवा हो!

• शशि प्रकाश

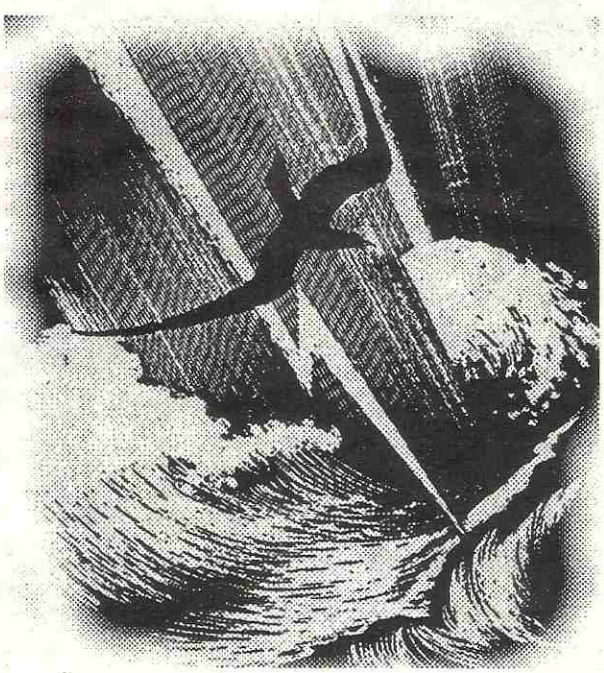

गूँज रही हैं चारो ओर
झींगुरों की आवाज़ें।
तिलचट्टे फदफदा रहे हैं
अपने पंख।
जारी हैं अभी भी नपुंसक विमर्श।
कान मत दो इनपर।
चिन्ता मत करो।
तुम्हारे सधे कदमों की धमक से
सहमकर शान्त हो जायेंगे
अँधेरे के सभी अनुचर।
जियो इस तरह कि
आने वाली पीढ़ियों से कह सको–
'हम एक अँधेरे समय में पैदा हुए
और पले-बढ़े
और लगातार उसके खिलाफ सक्रिय रहे'
और तुम्हें बिल्कुल हक होगा
यह कहने का बशर्ते कि
तुम फैसले पर पहुँच सको
बिना रुके, बिना ठिठके।
मत भूलो कि देर से फैसले पर पहुँचना
आदमी को बूढ़ा कर देता है।
जीवन के प्याले से छककर पियो
और लगाओ चुनौती भरे ठहाके
पर कभी न भूलो उनको
जिनके प्याले खाली हैं।
आश्चर्यजनक हों तुम्हारी योजनाएँ
पर व्यावहारिक हों।
सागर में दूर तक जाने की
बस ललक भर ही न हो,
तुम्हारी पूरी ज़िन्दगी ही होनी चाहिए
एक खोजी यात्रा।

सपने देखने की आदत
बनाये रखनी होगी
और मुँह-अँधेरे जागकर
सूरज की पहली किरण के साथ
सक्रिय होने की आदत भी
डाल लेनी होगी तुम्हे।
कुछ चीज़ें धकेल दी गयी हैं
अँधेरे में।
उन्हें बाहर लाना है,
जड़ों तक जाना है
और वहाँ से ऊपर उठना है
टहनियों को फैलाते हुए
आकाश की ओर।
सदी के इस छोर से
उठानी है फिर आवाज़,
'मुक्ति' शब्द को
एक घिसा हुआ सिक्का होने से
बचाना है।
जनता की सुषुप्त-अज्ञात मेधा तक
जाना है
जो जड़-निर्जीव चीज़ों को
सक्रिय जीवन में रूपान्तरित करेगी
एक बार फिर।
जीवन से अपहृत चीज़ों की
बरामदगी होगी ही एक न एक दिन।
आकाश को प्राप्त होगा
उसका नीलापन,
वृक्षों को उनका हरापन,
तुषारनद को उसकी श्वेताभा
और सूर्योदय को उसकी लाली
तुम्हारे रक्त से,
अगर तुम युवा हो।

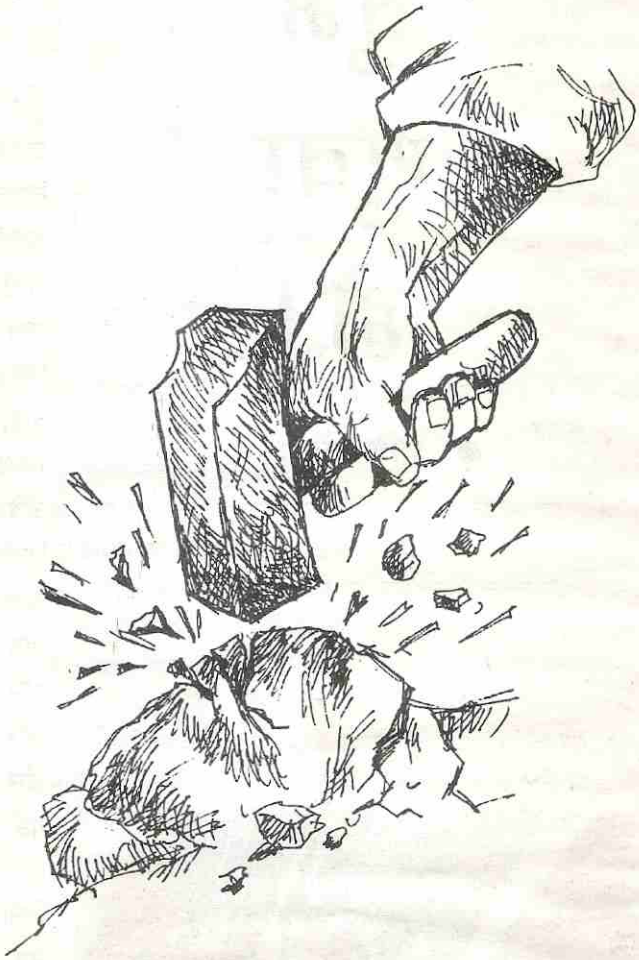

विश्व सामाजिक मंच : भूमण्डलीकरण के छद्म-विरोध का नया प्रपंच : विश्व पूँजीवाद का नया 'ट्रोजन हॉर्स'

• गौरव

पिछले14 से 21 जनवरी के बीच मुम्बई में साम्राज्यवादी भूमण्डलीकरण के नाम पर जो महातमाशा हुआ, उसमें दुनिया भर के गैर सरकारी संगठनों और चुनावी चाट के आदी नकली वामपंथियों की भारी जुटान हुई। विश्व सामाजिक मंच के इस चौथे सम्मेलन का बुर्जआ मीडिया ने जमकर प्रचार किया। तमाम मसलों पर खूब विचार-विमर्श हुए, खूब खेल-तमाशे हुए और फिर बिना किसी नतीजे पर पहुँचे सभी भागीदार वापस लौट गये।

इस मंच ने अपने घोषणापत्र में 'एक दूसरी दुनिया संभव है' जैसा लुभावना नारा उछाला है, जिससे यह भ्रम पैदा होता है कि यह मंच साम्राज्यवादी-पूँजीवादी विश्व व्यवस्था के खिलाफ एक नयी विश्व व्यवस्था की पैरोकारी करने वाला मंच है। लेकिन इस मंच के उद्देश्यों, उसके गठन की प्रक्रिया, इसमें भागीदार प्रमुख संगठनों के चरित्र और इसे आर्थिक सहयोग देने वाली संस्थाओं के चरित्र की छानबीन की जाये तो किसी को भी यह समझते देर नहीं लगेगी कि इस मंच की असली मंशा कुछ और ही है। यह दुनिया भर में साम्राज्यवाद पूँजीवाद विरोधी जनसंघर्षों को गुमराह करने के लिए खड़ी की गयी एक धोखे की टट्टी है। इसलिए क्रान्तिकारी-शक्तियों की यह अहम जिम्मेदारी बनती है कि वे हर मुमकिन तरीके से इसकी असलियत को आम लोगों के बीच बेनकाब करें, जिससे धुँधलका छँट सके और साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी जनसंघर्षों की सही दिशा उभरकर सामने आ सके।

सबसे पहले उस पृष्ठभूमि को समझना जरूरी है, जिसमें विश्व सामाजिक मंच अस्तित्व में आया। वर्ष 1999 में विश्व व्यापार संगठन की सिएटल बैठक के दौरान हुए ज़बर्दस्त जनप्रदर्शन के बाद साम्राज्यवादी भूमण्डलीकरण की नीतियों के विरोध में दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में बिखरे हुए जनसंघर्ष लगातार उठते रहे हैं। अफगानिस्तान पर अमेरिका हमले और इराक पर ताजा हमले और कब्जे से दुनिया भर में साम्राज्यवादी लुटेरों के खिलाफ जनता का आक्रोश लगातार बढ़ता गया है। खुद अमेरिका और यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों के भीतर भी युद्ध विरोधी प्रदर्शनों की बाढ़ सी आ गयी थी। इससे सभी साम्राज्यवादी डाकुओं का चिंतित हो जाना लाजिमी है। साम्राज्यवादियों के विचारक यह बखूबी जानते हैं कि जनअसंतोष को अगर उन्होंने सिर्फ खुले दमन के हथकंडों से दबाने की कोशिश की तो ये और भड़क उठेंगे। इसलिए उन्होंने एक ऐसी तरकीब निकालने के बारे में सोचा, जिससे विराध का छद्म भी बना रहे और पूँजीवादी-साम्राज्यवादी लूट-तन्त्र को कोई नुकसान भी न पहुँचे। इसी पृष्ठिभूमि में और साम्राज्यवादियों की कपटी चालों से विश्व सामाजिक मंच अस्तित्व में आया।

ब्राजील के शहर पोर्तो अलेग्रे में वर्ष 2000 में विश्व सामाजिक मंच का पहला सम्मेलन आयोजित हुआ था। इस मंच के गठन का प्रस्ताव फ्रांस सरकार के टुकड़ों पर पलने वाली संस्था 'अटैक' (ए.टी.टी.ए.सी. -एसोसिएशन फॉर द टैक्सेशन ऑफ फाइनेंशियल ट्रांजेक्शन्स एण्ड फॉर असिस्टेंस टू सिटिजंस) नामक संस्था के बर्नार्ड काजेन ने किया था। इस प्रस्ताव को ब्राजील के मौजूदा राष्ट्रपति लूला दा मेला की वर्कर्स पार्टी और ब्राजील में काम करने वाली आठ नामधारी गैरसरकारी संस्थाओं ने हाथों-हाथ लिया और उन्होंने मार्च 2000 में पोर्तो अलेग्रे में सम्मेलन करना तय किया। बाद में यूरोप में काम कर रहे दर्जनों एन.जी.ओ. इससे जुड़ते चले गये।

डब्ल्यू.एस.एफ. के इस पहले आधिकारिक सम्मेलन में 10,000 लोग इकट्ठा हुए। दिलचस्प बात यह है कि इस आधिकारिक सम्मेलन के समांतर पोर्तो अलेग्रे में ही एक और सम्मेलन हुआ जिसमें 50000 से अधिक लोग इकट्ठा हुए थे। इस सम्मेलन के मुख्य कर्ता-धर्ता किसिम-किसिम के एन.जी.ओ. ही थे, लेकिन सम्मेलन में बड़ी संख्या में शामिल आम आबादी भूमण्डलीकरण की लुटेरी नीतियों के खिलाफ अपने गुस्से का इजहार करने पहुँची थी। हालाँकि आधिकारिक सम्मेलन के आयोजकों ने इस समांतर सम्मेलन को नज़रअंदाज किया और अपना एक 18 सूत्री घोषणापत्र जारी किया।

सम्मेलन के लिए पोर्तो अलेग्रे का चुनाव भी अनायास नहीं था। यह शहर उस राज्य की राजधानी है, जहाँ उस समय ब्राजील की वर्कर्स पार्टी की अगुवाई में एक मिली-जुली सरकार कायम थी। पार्टी के मुखिया लूला आगे संसदीय चुनाओं में जीतकर ब्राजील के राष्ट्रपति बने। इस राज्य में लूला की पार्टी के सहयोग-समर्थन से पूँजीवादी जनतंत्र को मजबूत बनाने वाले एन.जी.ओ. मार्का सुधार के काम जैसे 'भागीदारी जनतंत्र' 'जमीनी जनतंत्र' जैसे लुभावने जुमलों की आड़ में गरीब और वंचित आबादी को सत्ता में भागीदारी दिलाने की कवायदें बड़े पैमाने पर चल रही हैं। कहा जा सकता है कि पोर्तो अलेग्रे दुनिया भर के एन.जी.ओ. का मक्का बन गया है।

डब्ल्यू.एस.एफ. की ब्राजीली आयोजन समिति इसके अन्तरराष्ट्रीय सचिवालय का काम करती है, जिसमें 'अटैक', लूला की वर्कर्स पार्टी और उसके यूरोपीय बिरादरों का ही दबदबा है। मंच की अन्तररष्ट्रीय परिषद 80 संगठनों को मिलाकर बनी है जिसमें 'अटैक', 'जेनोवा सोशल फोरम', त्रात्सकीपंथी चौथे इंटरनेशनल का एक धड़ा, 'अमेरिका काउंसिल ऑफ सोशल साइंसेज', सामिर अमीन का 'वर्ल्ड फोरम ऑफ आल्टरनेटिव्स' और इटली के 'कम्युनिस्ट रिफाउंडेशन' समेत तरह-तरहके एन.जी.ओ. की भरमार है।

डब्ल्यू.एस.एफ. का दूसरा और तीसरा सम्मेलन भी पोर्तो अलेग्रे में ही हुआ। जनवरी 2002 में आयोजित दूसरे सम्मेलन में कई यूरोपीय देशों की सरकारों ने अपने उच्चस्तरीय प्रतिनिधिमण्डल भेजे। फ्राँस के राष्ट्रपति जॉक शिरॉक ने प्रधानमंत्री लियोनेल जॉस्पें सहित छः मंत्रियों और पेरिस के मेयर को सम्मेलन में भेजा। इसके अलावा बेल्जियम के प्रधानमंत्री और फर्तगाल के पूर्व राष्ट्रपति जिन्होंने अपने देश में मजदूर वर्ग के भारी विरोध को अनदेखा कर धड़ल्ले से भूमण्डलीकरण की नीतियाँ लागू की थीं, भी इस सम्मेलन में पहुँचे हुए थे।

डब्ल्यू.एस.एफ. बनने की यह कहानी और सम्मेलनों में यूरोपीय साम्राज्यवादी लुटेरों के राजनीतिक नुमाइंदों की भागीदारी उसके भूमण्डलीकरण विरोधी चेहरे को अपने आप नोंचकर फेंक देती है। लेकिन भ्रम की कोई गुंजाइश न रहे इसके लिए उसके घोषणापत्र में किये गये राजनीतिक दावों और उसे रकम मुहैया कराने वालों के चेहरों को देख लेना भी जरूरी है।

●

डब्ल्यू.एस.एफ. का घोषणापत्र यह दावा करता है कि यह मंच साम्राज्यवाद के सभी रूपों और पूँजी के विश्वव्यापी दबदबे तथा नवउदारवाद (या भूमण्डलीकरण की नीतियों) का विरोध करने वाले 'सभ्य समाज' के विभिन्न समूहों एवं आंदोलनों को कारगर कार्रवाई के लिए एक मंच पर लाने की कोशिश है। इसके लिए यह मंच करेगा क्या? वस्तुतः कुछ नहीं! क्योंकि यह मंच केवल इन समूहों और आंदोलनों के बीच 'जनवादी ढंग से विचारों के आदान-प्रदान' और 'गहन चिंतन-मनन' का खुला मंच है। यानी यह कोरी गप्पबाजी का अड्डा है। मंच के तथाकथित सभ्य समाज की अवधारणा में ही वह असली झोल है, जिसके तहत दुनिया की जनता के जालिम लुटेरे हुक्मरान भी आते हैं और इनके शोषण व जोरो-जुल्म का विरोध करने वाली जनता भी। मंच जालिमों के दरबार में मजलूमों की नालिश कराने का खुला मौका देना चाहता है। गौरतलब है कि 'सभ्य समाज' की यह शब्दावली आजकल एन.जी.ओ. वालों ही नहीं बल्कि विश्व बैंक अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष और संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी लुटेरी संस्थाओं के दस्तावेजों में खूब चलन में है।

लेकिन इस खुले मंच का खुलापन उस समय बेनकाब हो जाता है जब यह क्रान्तिकारी जनांदोलनों एवं समूहों के लिए इस मंच के दरवाजे पूरी तरह बंद कर लेने का ऐलान अपने घोषणापत्र में करता है। **"मंच में न तो पार्टियों और न ही सशस्त्र कार्रवाई करने वाले संगठनों के प्रतिनिधि शामिल हो सकते हैं। (मंच के) घोषणापत्र को स्वीकार करनेवाले सरकार के नेताओं और विधायिकाओं के सदस्यों को व्यक्तिगत रूप से शामिल होने का आमंत्रण दिया जा सकता है।"**

मंच के घोषणापत्र का नौवां नुक्ता ठीक-ठीक यही बात करता है। साफ है कि यह खुला मंच दुनिया के लुटेरे शासक वर्गों के नुमाइंदों, मज़दूर वर्ग से गद्दारी कार पूँजीवाद-साम्राज्यवाद की चाकरी में जुटी सी.पी.आई.-सी.पी.एम. जैसी सामाजिक जनवादी पार्टियों (चुनावी वामपंथी पार्टियों) और तरह-तरह के एन.जी.ओ. के लिए तो खुला है लेकिन क्रान्तिकारी पार्टियों ओर उनके सैन्य विभागों के लिए इसके दरवाजे पूरी तरह बंद हैं।

मंच किस तरह कोरी गप्पबाजी का अड्डा है इसे भी स्वयं घोषणापत्र ही जाहिर कर देता है। इसमें एक जगह कहा गया है कि मंच ऐसी संस्था नहीं है, जो उसमें शामिल सभी संगठनों और लोगों की ओर कोई साझा निर्णय लेगी। यानी व्यवहारतः वह कोई कार्रवाई नहीं करेगा सिर्फ "गहन चिन्तन-मनन" के लिए जगह मुहैया करायेगा। यानी मंच के कर्ता-धर्ता पूँजीवाद-साम्राज्यवाद को सिर्फ एक बिगड़ा हुआ बच्चा मानते हैं जिसे केवल समझा-बुझाकर व चिरौरी-मिन्नत कर ठीक रास्ते पर लाया जा सकता है। मंच पूँजीवाद-साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के लिए सशस्त्र संघर्ष करना 'सभ्य समाज' के खिलाफ मानता है। घोषणापत्र घुमा-फिराकर मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र, समाज के विकास की मार्क्सवादी अवधारणा और समाजवाद का विरोध करते हुए हर तरह की हिंसा के खिलाफ अहिंसा के उपदेशक की मुद्रा अख्तियार कर 'मानवाधिकारों के सम्मान', 'वास्तविक जनवाद' और 'भागीदारी जनवाद' को लागू करने की चर्चा करने लगता है।

कुल मिलाकर नवउदारवादी (भूमंडलीकरण) की नीतियों और साम्राज्यवाद के सभी रूपों का विरोध करने की जुगाली करते हुए डब्ल्यू.एस.एफ. पूँजीवाद-साम्राज्यवाद विरोधी जनसंघर्षों की आँच पर पानी के छींटें डालने की शातिराना कारगुजारियों में लिप्त है। यह नयी दुनिया का जो नक्शा दुनिया के मेहनतकश अवाम के सामने पेश करने का दावा करता है वह और कुछ नहीं मुनाफे की अंधी लूट, युद्धों की तबाही और अनगिनत किस्म के अन्याय-अत्याचार में डूबी यही पूँजीवादी-साम्राज्यवादी दुनिया है। डब्ल्यू.एस.एफ. के कर्ता-धर्ता इस व्यवस्था का खात्मा नहीं चाहते, बस उसमें कुछ सुधार चाहते हैं, जिससे इसके कुरूप चेहरे को थोड़ा सा चमकाया जा सके। वे भूमण्डलीकरण के दानवी चेहरे पर एक मानवीय मुखौटा पहनाना चाहते हैं, जिससे दुनिया की जनता में पनप रहा आक्रोश ठंडा पड़ पाये और विश्व पूँजीवाद उसके कोप-कहर से महफूज रहे।

●

डब्ल्यू.एस.एफ. के भीतर आधे से अधिक संगठन साम्राज्यवादियों के टुकड़ों पर पलने वाले एन.जी.ओ. हैं। **फोर्ड फाउण्डेशन** ने वर्ष 2001 और 2002 में ब्राजील में सक्रिय एन.जी.ओ. क एसोसिएशन को 3,28000 डालर की रकम बाँटी। इसी तरह **आक्सफैम, हेनरिक बोल फाउण्डेशन, आई.सी.सी.ओ.** (इंटर चर्च कोआर्डिनेशन कमेटी फॉर डेवलेपमेंट प्रोजेक्ट) और **'अटैक'** जैसे अन्य एन.जी.ओ. मगरमच्छों ने डब्ल्यू.एस.एफ. को भारी रकमें मुहैया करायीं।

'आक्सफेम' (आक्सफोर्ड कमेटी फॉर फेमीन रिलीफ) का गठन द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अकाल राहत पहुँचाने के नाम पर हुआ था। 1960 और 1970 के दशक में दुनिया के कई देशों में इसका तेजी से फैलाव हुआ और आज लगभग सभी देशों में इसका जाल फैल चुका है। यह दुनिया में "गरीबी और सामाजिक अन्याय और असमानताओं के बुनियादी कारणों" को दूर करने के नाम

पर तरह-तरह के "सुधार" कार्यों का जाल रचते हुए और कई दूसरे एन.जी.ओ. के प्रोजेक्टों को रकमें बाँटते हुए विश्व पूँजीवाद की सेवा में मुस्तैदी से जुटी है।

इसी तरह **हेनरिक बोल फाउण्डेशन** ने सामाजिक न्याय, लैंगिक न्याय, पारिस्थितिकी, टिकाऊ विकास आदि के नाम पर भी समाज सेवा का जाल बिछा रखा है। यह जर्मनी की मौजूदा सरकार में शामिल ग्रीन पार्टी से जुड़ी है, दुनिया के कई देशों में इसके दफ्तर और नेटवर्क हैं और यह कई इंस्टीट्यूट भी चलाती है। फेमिनिस्ट इंस्टीट्यूट इसी का अंग है।

आई.सी.सी.ओ. भी डब्ल्यू.एस.एफ. की एक भागीदार है जो एक प्रोटेस्टेंट एन.जी.ओ. है ओर इसे लगभग पूरी रकम हालैण्ड सरकार से मिलती है।

'अटैक' का गठन भी फ्राँस के एक नोबल फरस्कार विजेता अर्थशास्त्री जेम्स टोबिन के नाम पर हुआ था। टोबिन "मुक्त व्यापार" के जोशीले समर्थक हैं। टोबिन ने वित्त के अन्तरराष्ट्रीय लेन-देन पर 0.05-1.04 प्रतिशत तक टैक्स लगाने की नसीहत दी थी। मकसद यह बताया गया था कि इससे जो धनराशि वसूली जायेगी उसका इस्तेमाल "विकास", व "गरीबी से लड़ने" मे किया जायेगा। इस टैक्स को टोबिन टैक्स का नाम दिया गया। 'अटैक' इस टोबिन टैक्स के बारे में इस ढंग से प्रचार करता है जैसे इसके लागू होने से पूँजीवादी-साम्राज्यवादी लूटतंत्र को नुकसान पहुँचाये बिना गरीबी उड़नछू हो जायेगी और दुनिया विकास की डगर पर सरपट दौड़ चलेगी। फ्रांस की सरकार 'अटैक' को भारी मात्रा में धन मुहैया कराती है। फ्रांस के ही एक अखबार 'ल मोंद' के अनुसार विश्व सामाजिक मंच के पहले सम्मेलन का आयोजन करने के लिए फ्रांस के विदेश मंत्रालय ने 80,000 यूरो की रकम दी थी।

साम्राज्यवादियों के धन से चलने वाले फाउंडेशन और साम्राज्यवादियों के ही टुकड़ों पर पलने वाले एन.जी.ओ. के अलावा दुनिया भर में मज़दूरों की लड़ाइयों से गद्दारी कर पूँजीवाद की चाकरी करने में जुटी हुई सामाजिक जनवादी पार्टियाँ डब्ल्यू.एस.एफ. की मुख्य कर्ता-धर्ता हैं। ये सभी पार्टियाँ–चाहे भारत में सी.पी.आई-सी.पी.एम. जैसी पार्टियाँ हों या ब्राजील की वर्कर्स पार्टी–भूमण्डलीकरण की नीतियों को जोर-शोर से लागू कर रही हैं। ये सभी भूमण्डलीकरण की नीतियों के नुकसानदेह प्रभावों के विरोध की जुगाली करते हुए भूमण्डलीकरण के राक्षस पर मानवीय चेहरा चस्पां करने की कवायदों में जुटी हुई हैं। ब्राजील के राष्ट्रपति लूला तो पूँजीपति लुटेरों के वैश्विक आर्थिक मंच और विश्व सामाजिक मंच के बीच फल बनाने की जोर-शोर से वकालत करते हैं। भूमण्डलीकरण विरोध के चैंपियन बने हुए लूला जनवरी 2003 के विश्व सामाजिक मंच के सम्मेलन से सीधे आकर विश्व आर्थिक मंच के सम्मेलन में साम्राज्यवादी मगरमच्छों से 'संरक्षणवाद' से बाज आने और 'मुक्त व्यापार' को बढ़ाने की आरजू करने जा पहुँचे थे।

मेहनतकश जनता की दुनिया भर में जारी लूट में अपने हिस्से के लिए सभी साम्राज्यवादी लुटेरों के बीच आपस में गलाकाटू होड़ मची हुई है। जब तक साम्राज्यवाद कायम रहेगा तब तक यह खत्म नहीं हो सकती। यूरोपीय साम्राज्यवादी विश्व सामाजिक मंच का इस्तेमाल अमेरिकी लुटेरों के साथ अपनी होड़ के मद्देनजर कुशलता से कर रहे हैं। यूरोपीय साम्राज्यवादियों के साथ एक मुसीबत यह भी है कि उनके देशों का मेहनतकश अवाम भूमण्डलीकरण की नीतियों के खिलाफ आसानी से घुटने नहीं टेक रहा है। इसका कारण यूरोपीय मज़दूर आंदोलन का पिछला शानदार इतिहास है। इसलिए यूरोपीय साम्राज्यवादी ऐसे मंचों पर उपस्थित होकर 'भूमण्डलीकरण विरोधियों' के साथ खड़ा होकर अपने देशों में मेहनतकश अवाम के गुस्से की आग को थोड़ा ठण्डा करना चाहते हैं। साथ ही वे कुशलता के साथ भूमण्डलीकरण विरोध को अमेरिकी साम्राज्यवाद के विरोध का पर्यायवाची बनाकर जनसंघर्ष की धारा को भटकाने में भी लगे हुए हैं।

विश्व सामाजिक मंच ने साम्राज्यवाद विरोध का जो प्रपंच रचा है, उसे मेहनतकश अवाम को अच्छी तरह समझने की जरूरत है। साम्राज्यवाद की समूची व्यवस्था को तबाह किये बिना एक नई व्यवस्था कायम नहीं की जा सकती। जब तक यह साम्राज्यवादी व्यवस्था कायम रहेगी–मानवता को भूख, बेकारी, लुटेरे युद्धों, अन्याय-उत्पीड़न और पूँजीवाद की विभीषिकाओं से नहीं बचाया जा सकता। विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में किसी किस्म के सुधार की गुंजाइश या 'मानवीय चेहरे' वाले भूमण्डलीकरण की बात करना छलावा है। विश्व स्तर पर समाजवादी व्यवस्था ही साम्राज्यवाद-पूँजीवाद का विकल्प हो सकती है और केवल दुनिया के मेहनतकश अवाम के क्रान्तिकारी संघर्षों द्वारा इसे उखाड़ फेंकने क बाद ही नई व्यवस्था कायम की जा सकती है।

आज दुनिया भर में चल रहे पूँजीवाद-साम्राज्यवाद विरोधी जनसंघर्षों को गुमराह होने से बचाने के लिए यह एक जरूरी शर्त है कि डब्ल्यू.एस.एफ. को बेनकाब किया जाये। जो ईमानदार लेकिन दिग्भ्रमित प्रगतिशील बुद्धिजीवी डब्ल्यू.एस.एफ. में शामिल हैं उन्हें भी अगर इस छलावे से बाहर निकालना है तो यह जरूरी है कि बेलाग-लपेट ढंग से डब्ल्यू.एस.एफ. के असली चरित्र का पर्दाफाश किया जाये।

बजा बिगुल मेहनतकश जाग,
चिंगारी से लगेगी आग!

'बिगुल'

मज़दूरों का इंकलाबी अख़बार

सम्पर्क: 69, बाबा का पुरवा,
पेपरमिल रोड, लखनऊ–226006
मूल्य: रु. 3/- वार्षिक
सदस्यता शुल्क रु. 40/-

भण्डारकर प्राच्य शोध संस्थान पर आक्रमण और विध्वंस

बर्बरों को नहीं चाहिए इतिहास!

• कात्यायनी

यूनानी महाकवि **कोंस्तांतिन कवाफ़ी** की सुप्रसिद्ध कविता *'बर्बरों का इंतज़ार में'*, नगर के सभी भद्र नागरिक अपने राजा और सभासद के साथ नगर द्वार पर एकत्र होकर बेकली से बर्बरों का इन्तजार कर रहे हैं। अन्त में बर्बरों के नहीं आने से वे काफी चिन्तित होते हैं :

"और अब क्या होगा
हमारा बर्बरों के बगैर?
वे किसी तरह का
समाधान तो थे।"

एक विकल्पहीन, ठहरावग्रस्त, संकटग्रस्त व्यवस्था अन्ततोगत्वा बर्बरता में ही अपनी सारी समस्याओं का समाधान देखती है। यह बात कवाफ़ी के देशकाल से अधिक हमारे देशकाल पर लागू होती है। पूँजीवाद अपने तमाम संकटों का समाधान ढूँढते हुए एक बार फिर फासीवादी बर्बरता तक जा पहुँचा है।

कवाफ़ी की कविता की तरह हमारे देश के भद्रजनों को आज यह चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है कि यदि बर्बर नहीं आये तो क्या होगा! बर्बर यहाँ आ चुके हैं। राज्य और पूँजीवादी जनवाद की सभी संस्थाओं पर वे काबिज हैं और लगातार समस्याओं का "फासीवादी" समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं। बाबरी मस्जिद के ध्वंस से लेकर गुजरात-2002 तक लगातार दंगों-नरसंहारों का सिलसिला जारी है। इसके साथ ही वे लगातार इतिहास की जगह मिथ्या इतिहास और मिथकों को स्थापित कर रहे हैं, विज्ञान और तर्कणा की जगह धार्मिक अंधविश्वास एवं नस्ली-धार्मिक-जातीय श्रेष्ठता की छद्म मान्यताओं को तथा बुर्जुआ जनवाद की जगह निरंकुश असहिष्णुता को स्थापित कर रहे हैं। इतिहास की पाठ्यफस्तकों और आई.सी.एच.आर. जैसी संस्थाओं को निशाना बनाना तथा पाठ्यक्रमों के फासिस्टीकरण की महत्वाकांक्षी 'जोशी-परियोजना' इसी सिलसिले की कड़ियाँ हैं। कलाकृतियों को नष्ट करना, फिल्मों के निर्माण एवं प्रदर्शन को रोक देना–यह सब कुछ कोई पहली बार नहीं हो रहा है। विहिप, बजरंग दल, और संभाजी ब्रिगेड जैसे संगठन जो कर रहे हैं, वह हिटलर के नात्सी दस्ते और 'कू-क्लक्स-क्लान' जैसे गिरोह पहले भी कर चुके हैं।

इस वर्ष जनवरी के महीने में फणे स्थित **भण्डारकर प्राच्य शोध संस्थान** पर बाल ठाकरे की शिवसेना से सम्बद्ध मराठा सेवा संघ की संभाजी ब्रिगेड ने हमला करके जो तोड़फोड़ और विनाश किया, वह पिछले पन्द्रह वर्षों से जारी उग्र कट्टरपंथी गतिविधियों की सबसे ताजा कड़ी है। इतिहास और संस्कृति पर किये गये हाल के हमलों में यह सबसे बर्बर है, जिसकी भरपाई लगभग नामुमकिन है। इतिहास पर यह हमला इतिहास-बोध पर हमला है। बिना वैज्ञानिक इतिहास-बोध के भविष्य-निर्माण नहीं किया जा सकता। इसलिए यह हमला वस्तुतः भविष्य पर एक फासिस्ट हमला है।

भण्डारकर संस्थान की स्थापना 1917 में रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर की याद में हुई थी। 1920 में तत्कालीन मुंबई प्रशासन ने बीस हजार दुर्लभ पाण्डुलिपियों का संग्रह इस संस्थान को सौंप दिया था। संस्थान के पास अमूल्य पुरानी पुस्तकों, कलात्मक वस्तुओं, पाण्डुलिपियों और अभिलेखों की विराट सम्पदा थी। प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय इतिहास के अध्येता पूरी दुनिया से स्रोत-सामग्री की तलाश में भण्डारकर संस्थान आते रहे हैं और शोध-कार्य करते रहे हैं।

विगत सात जनवरी को सम्भाजी ब्रिगेड के कार्यकर्ताओं ने संस्थान में घुसकर जबर्दस्त तोड़फोड़ की। कुल 18 हजार पुस्तकों और 30 हजार दुर्लभ पाण्डुलिपियों को या तो उन्होंने चुरा लिया या नष्ट कर दिया। कई पुरानी मूर्तियों और चित्रों की भी उन्होंने यही दुर्गति की। इसके पहले 22 सितम्बर 2003 को पुणे के शिवसेना प्रमुख रामभाउ पारेख के नेतृत्व में शिवसैनिकों ने वयोवृद्ध संस्कृत विद्वान और इतिहासकार **श्रीकान्त बहुलकर** पर हमला किया और उनके मुँह पर कालिख पोत दी।

इन सारी घटनाओं की पृष्ठभूमि में अमेरिकी इतिहासकार **जेम्स लेन** की पुस्तक *'शिवाजी : इस्लामी भारत में एक हिन्दू राजा'* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस) थी, जिसमें लेखक ने ऐतिहासिक साक्ष्यों के

हवाले से एक स्थान पर शिवाजी के निजी एवं पारिवारिक जीवन के बारे में कुछ ऐसी बातें लिखी हैं, जो मराठा-अस्मिता और हिन्दू गौरव के नायक के रूप में शिवाजी को देखने वाले शिव सैनिकों को आपत्तिजनक प्रतीत हुईं। जेम्स लेन ने अपनी पुस्तक की भूमिका में, सामग्री जुटाने व अध्ययन में सहयोग के लिए बहुलकर भण्डारकर संस्थान के लोगों के प्रति धन्यवाद-ज्ञापन किया था, महज इसी बात का खामियाजा उन्हें भुगतना पड़ा। चूँकि जेम्स लेन ने प्रख्यात मराठी साहित्यकार **दिलीप चित्रे** के प्रति भी सहयोग के लिए आभार-प्रदर्शन किया था, इसलिए उन्हें भी लगातार सम्भाजी ब्रिग्रेड और शिव सेना से धमकियाँ मिल रहीं हैं और वे फलिस-संरक्षण में अपने ही घर में क़ैद जैसी स्थिति में हैं। हाल ही में इस घटना पर दिलीप चित्रे ने *'नाजीवाद की आहटें'* शीर्षक से एक विक्षुब्ध टिप्पणी भी लिखी थी। दिलीप चित्रे या श्रीकान्त बहुलकर का जेम्स लेन की शिवाजी-विषयक स्थापनाओं से कुछ भी लेना-देना नहीं है। उन्होंने कुछ मराठी और संस्कृत स्रोत-सामग्री के अध्ययन में उनकी सहायता मात्र की थी, जिसकी उन्हें क़ीमत चुकानी पड़ी।

''आहत भावनाओं'' की राजनीति या ''अस्मितावादी'' राजनीति की अकादमिक क्षेत्र में किस हद तक निरंकुश स्वेच्छाचारी परिणतियाँ हो सकती हैं–इसका एक प्रतिनिधि उदाहरण भण्डारकर संस्थान-विध्वंस काण्ड है। बात केवल भाजपा और शिवसेना के फासिस्ट गुण्डों की ही नहीं है। क्षेत्रीय और जातीय अस्मिता की राजनीति करने वाली सभी बुर्जुआ पार्टियों ने अपने-अपने इतिहास-पुरुष ढूँढकर उनका ऐसा महिमामण्डन किया है कि उनके विचारों और भूमिका के ऐतिहासिक वस्तुपरक मूल्यांकन को लगभग असंभव बना दिया गया है। वैचारिक मतभेदों का जवाब गाली, तोड़फोड़ और हमले से देना एक चिरपरिचित फासिस्ट फ़ितरत है, जिसका इस्तेमाल आज लगभग सभी बुर्जुआ पार्टियाँ कर रही हैं। ऐसी घटनाएँ आम् होती जा रही हैं और न केवल राजनीतिक बल्कि अकादमिक दायरों में भी कभी धार्मिक, कभी जातिगत तो कभी राष्ट्रीय अस्मिता को पहुँचाये गये आघात की ''प्रतिक्रिया'' को जायज़ ठहराने वाले लोगों की आज कमी नहीं है।

भण्डारकर संस्थान और श्रीकान्त बहुलकर पर हमले की घटना से क्षुब्ध इतिहासकार **गजानन मेहेंदेले** ने तीस वर्षों के श्रम से तैयार अपनी पुस्तक *''श्री राजा शिव छत्रपति''* की अप्रकाशित पाण्डुलिपि को यह कहते हुए फाड़ दिया कि *''मैं किसके लिए लिख रहा हूँ, यहाँ कोई इस प्रकार के लेखन को पढ़ने के काबिल नहीं है।''* लेकिन इस कड़वी सच्चाई को मेहेंदेले को भी मानना चाहिए कि निरंकुश वैचारिक असहिष्णुता के इस परिवेश के निर्माण में उन जैसे इतिहासकारों की भी भूमिका रही है। उल्लेखनीय है कि जून, 2003 में जेम्स लेन की फस्तक के तथाकथित आपत्तिजनक अंशों पर ध्यान जाने के बाद गजानन मेहेंदेले, निनाद बेडेकर, बाबूसाहब पुरंदरे और जयसिंहरवा पवार आदि इतिहासकारों ने प्रकाशक ओ.यू.पी. को पत्र लिखकर इस पुस्तक को बाज़ार से हटाने की माँग की थी। जाहिर है कि अपने कारोबारी हितों को देखते हुए ओ.यू.पी. ने ऐसा ही किया। बुनियादी सवाल इतिहासकारों द्वारा इस माँग के ही औचित्य का है। धार्मिक विषयों के अमेरिकी अध्येता जेम्स लेन की स्थापनाओं और उनके द्वारा प्रस्तुत तथ्यों या उनके औचित्य पर किसी की भी असहमति या मतभेद हो सकते हैं। लेकिन शोध-अध्ययन के प्रति वैज्ञानिक प्रतिबद्धता का एकमात्र आग्रह यही हो सकता है कि उस फस्तक में प्रकट विचारों-स्थापनाओं की आलोचना की जाये, उन पर बहस चलायी जाये और सच्चाई सामने लाई जाये। एक इतिहासकार जब पुस्तक को बाजार से हटाने की या उसपर प्रतिबंध लगाने की बात करता है, यदि वह स्वयं ''आहत भावनाओं के तर्क'' का शिकार होता है तो उसे इस तर्क की परिणति को स्वीकारने के लिए भी तैयार रहना होगा। ''अस्मितावादी'' राजनीति एवं धार्मिक जातिगत ''आहत भावनाओं'' की आड़ लेकर अपना उल्लू सीधा करने वाली बुर्जुआ पार्टियाँ और राज्यसत्ता अन्ततोगत्वा ऐसे लोगों को अपने मोहरों के रूप में ही इस्तेमाल करती हैं।

ग़ौरतलब है कि शिवसैनिकों और भाजपाइयों की धार्मिक असहिष्णुता की आलोचना का दिखावा करने वाली कांग्रेस और राकांपा की, महाराष्ट्र में सत्तासीन गठबंधन सरकार ने, पुस्तक को प्रकाशक द्वारा बाजार से हटा लेने के बावजूद उस पर प्रतिबंध लगाकर अंध मराठा अहंवाद और हिन्दुत्व की भावनाओं को तुष्ट करने की कोशिश की। कांग्रेस और राकांपा बाला साहब ठाकरे की तरह मराठी अस्मिता की राजनीति मुखर रूप से भले न करती हों, लेकिन दोनों ही पार्टियों के मराठा क्षत्रपों को अपने मताधार की चिन्ता जरूर सता रही थी। महाराष्ट्र सरकार द्वारा फस्तक पर प्रतिबन्ध के पीछे मूलतः वही तर्क काम कर रहा है, जो कांग्रेस की 'नरम केसरिया लाइन' के पीछे काम करता रहा है।

कोई आश्चर्य नहीं कि मराठा सेवा संघ का सरगना महाराष्ट्र सरकार की सेवा में एक्जीक्यूटिव इंजीनियर है और अभी तक उसके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं हुई है। बहुलकर के साथ दुर्व्यवहार करने वालों का सरदार रामभाउ पारेख भी छुट्टा घूम रहा है। भण्डारकर संस्थान में तोड़फोड़ करने वाले 72 लोग गिरफ्तार होकर जमानत पर छूट चुके हैं और देर-सबेर कानून भी उन्हें ''साक्ष्यों के अभाव'' में छोड़ देगा या छोटी-मोटी सजाएँ उन्हें मिल जायेंगी। पर इतिहास को जो क्षति पहुँची है, उसकी भरपाई तो असंभव ही होगी।

मुंबई के पत्रकार निखिल वागले ने भण्डारकर संस्थान पर हमले के साथ ही जेम्स लेन की किताब पर सरकारी प्रतिबंध की भी निन्दा की है और इसे अलोकतांत्रिक कदम बताया है। उनका यह विचार एकदम उचित ही प्रतीत होता है कि अकादमिक क्षेत्र में मतभेदों पर बहस के बजाय प्रतिबंध की राजनीति और उसकी स्वीकार्यता ख़तरनाक है। आज के हालात में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि जिन लेखकों और इतिहासकारों ने भण्डारकर संस्थान पर हमले की घटना की भर्त्सना की है, उनमें से भी अधिकांश ने जेम्स लेन की फस्तक पर सरकारी प्रतिबंध की निन्दा नहीं

की है। सवाल चाहे जेम्स लेन की पुस्तक पर महाराष्ट्र सरकार के प्रतिबंध का हो या तसलीमा नसरीन की पुस्तक पर पश्चिम बंगाल सरकार के प्रतिबंध का, पुस्तक-प्रतिबंध की यह राजनीति बुर्जुआ जनवाद के रहे-सहे 'स्पेस' के भी सिकुड़ने का द्योतक है। जेम्स लेन के किसी व्याख्या-विवरण से असहमति स्वाभाविक है और इस बात पर भी बहस हो सकती है कि तसलीमा नसरीन का चौंक-चमत्कार भरा अराजकतावादी मुक्ति-दर्शन किस हद तक बज़ार के तक़ाज़ों के चलते और किस हद तक जन-मुक्ति या स्त्री-मुक्ति के पक्ष में प्रभावी है! बातचीत इस प्रश्न पर भी हो सकती है कि तसलीमा पश्चिमी मीडिया की 'स्टार' क्यों हैं और इराक तथा साम्राज्यवादी विभीषिका के अन्य सामयिक ज्वलन्त प्रश्नों पर वे मुखर व सक्रिय क्यों नहीं होतीं! लेकिन तमाम मतभेदों के बावजूद किसी धार्मिक समुदाय, राष्ट्रीय समुदाय या जाति विशेष की भावनाओं के आहत होने की आड़ में पुस्तक पर प्रतिबंध लगाना सरासर गलत है। जिसे आपत्ति हो, उसे समालोचना और बहस का तो पूरा अधिकार हो सकता है, लेकिन गुण्डागर्दी और प्रतिबंधों की राजनीति का तो सभी जनवादी, प्रगतिशील शक्तियों को जमकर विरोध करना चाहिए। सोचने की बात है कि हिटलर की आत्मकथा और तरह-तरह की विकृत पुस्तकें तो बाजार में बिक सकती हैं, लेकिन अकादमिक एवं साहित्यिक दायरे में ''आहत भावनाओं'' की राजनीति की आड़ में पुस्तकों पर प्रतिबंध लगाया जाता है। यूँ तो धार्मिक पुस्तकों में नास्तिकों के लिए वर्णित दण्डों और अपमानजनक बातों से अनीश्वरवादियों की भावनाएँ भी आहत होती हैं। तो क्या उनकी आहत भावनाओं की खातिर धर्मग्रन्थों पर प्रतिबंध लगाया जा सकता है?

बहरहाल, मूल प्रश्न पर वापस लौटें। भण्डारकर संस्थान के ऐतिहासिक अभिलेखों की तबाही जैसी कोई घटना यदि फ्रांस जैसे यूरोप के किसी पूँजीवादी जनवादी देश में घटी होती तो कम से कम बौद्धिक जगत में तो 'राष्ट्रीय शोक' जैसा माहौल होता, संस्कृतिकर्मी, अकादमीशियन और छात्र सड़कों पर होते और सरकार के इस्तीफे तक की नौबत आ जाती। यह भारत के बौद्धिक मानस पर अंकित औपनिवेशिक अतीत का एक जन्मचिह्न ही है कि भारतीय प्रगतिशील बुद्धिजीवियों तक का इतिहास-बोध काफी कमजोर है। जहाँ तक आम मध्य वर्ग की बात है तो वह इतिहास और मिथकों में कोई फर्क नहीं करता, प्रायः इतिहास का मिथकीकरण करता है और इतिहास को जानने के बजाय इतिहास को पूजने का आदी है। अतीत-पूजा की यह मनोवृत्ति औपनिवेशिक समाज के जनों के पराजित मानस और उन्हें अपने इतिहास से विच्छिन्न कर देने के उपनिवेशवादी कुचक्रों का ही एक प्रतिफल है, जो आज भी प्रतिक्रिया की ताकतों को बल दे रहा है और उनके काम आ रहा है। भण्डारकर संस्थान पर फासिस्ट हमले के बाद अखबारों के सम्पादकीय पृष्ठों पर घटना की निन्दा करते हुए कुछ लेख छपे। सरकार से और शासकीय प्रतिष्ठानों के पीठासीन बुद्धिजीवियों से तो अपेक्षा ही नहीं की जा सकती थी, लेकिन किसी प्रगतिशील या जनवादी लेखक संगठन ने भी इस घटना की निन्दा करते हुए न तो कोई वक्तव्य दिया, न ही प्रतीकात्मक विरोध का भी कोई कार्यक्रम लिया। शायद उनके विचार में यह इतिहास से जुड़ा सवाल है और संस्कृति से इसका कुछ भी लेना-देना नहीं है! देश के गण्यमान्य इतिहासकारों ने इसकी निन्दा करते हुए एक बयान जारी करके अपने कर्तव्य की इतिश्री कर ली और उनका बयान कुछ अखबारों के कोने-अंतरे में कहीं थोड़ी जगह भी पा गया। देश के लगभग सभी विश्वविद्यालयों के परिसर में जीवन सामान्य रहा। कहीं से भी किसी छोटे-मोटे विरोध-प्रदर्शन तक की खबर नहीं आई। दरअसल हमारे देश के प्रगतिशील बुद्धिजीवी और अकादमीशियन सड़क पर उतरना अपनी ''गरिमा'' के प्रतिकूल मानते हैं (वेतन, सेवा-सुविधा, आदि अपवादों को छोड़कर)। जहाँ तक आम छात्रों की बात है, यह शिक्षा व्यवस्था उन्हें वह इतिहास-बोध देती हीं नहीं कि वे इस घटना के ऐतिहासिक विनाशकारी प्रभाव को समझ सकें। जो वामपंथी छात्र संगठन हैं, उनकी समाज-विकास की गतिकी की समझ भी इतनी ही उथली है कि वे इस घटना को किसी तरह के प्रचार या आन्दोलन की कार्रवाई का मसला नहीं मानते।

भण्डारकर इंस्टीट्यूट-ध्वंस काण्ड ने इस देश के परिवर्तनकामी जनों को आईना दिखाने का काम किया है और हमें यह अहसास भी दिलाया है कि हमारे सामने खड़ी चुनौतियाँ कितनी विकट हैं तथा उनके बरक़्स हमारी बौद्धिक-भौतिक तैयार कितनी कम और कितनी अस्त-व्यस्त है। निश्चय ही, क्रान्तिकारी परिवर्तन की लहर जब तक तूफ़ान की शक्ल नहीं लेगी, जब तक क्रान्ति की लहर पर प्रतिक्रान्ति की लहर हावी बनी रहेगी, तबतक फासिस्ट इस तरह के भयंकर काण्ड करते रहेंगे, जिसकी कीमत आने वाली पीढ़ियाँ तक चुकायेंगी। इतिहासद्रोही शक्तियाँ इतिहास का ध्वंस करके भविष्य-निर्माण की वाहक शक्तियों पर चोट कर रही हैं और तरह-तरह से कर रहीं हैं।

भण्डारकर इंस्टीट्यूट की तबाही इस देश के जनपक्षधर बुद्धिजीवी के सामने न सिर्फ दर्पण रख रही है, बल्कि एक विकट यक्षप्रश्न उपस्थित कर रही है। यह वही प्रश्न है जो **मुक्तिबोध** की प्रसिद्ध कविता *'उस दिन'* का विचित्र पात्र *'उपेक्षित काल पीड़ित सत्य'* उन बुद्धिजीवियों से पूछता है जो 'जनगुण' से रिक्त है और जो 'ज़िन्दगी की धमन भट्ठी में परीक्षित होकर इस्पात, नहीं बने हैं :

सुना तुमने!!
धधकती जा रही है ग्रन्थशाला भी
हमारे पर्सिपोलिस की!!
कहाँ फ्रामरोज़ (पण्डितराज)
केटायून (कवयित्री)
कहाँ बहराम (सम्पादक)
कहाँ रुस्तम
उन्होंने सिर्फ़ नालिश की
अरे रे, सिर्फ़ नालिश की
अँधेरी उस अदालत में
जहाँ मुंशी व मुंसिफ़ पी रहे थे
लुटेरे के अर्दली के साथ
रम, शैम्पेन, व्हिस्की–जब
उड़ेले जा रहे थे खूब कैरोसीन के पीपे
लगायी जा रही थी सींक माचिस की
कहाँ थे वे
कहाँ थे तुम

कि जब दस मंज़िलों, दस गुम्बदों वाली
सुलगती जा रही थी लायब्रेरी पर्सिपोलिस की
हमारे गहन जीवन-ज्ञान
मानव-मूल्य के उस एक्रोपोलिस की!!
क्षितिज पर पोत डामर जब,
गुलाबों, सूर्यमुखियों, पारिजातों पर
छिड़ककर स्याह गाढ़ा कोलतारी द्रव
हमीं में से विदेशी सा
हमारे बीच का ही एक
नवसाम्राज्यवादी...
क्रोध के आवेश में आकर
उजाड़े जा रहा है जिन्दगी की बस्तियाँ
पददलित मानव-मूल्य
हैं आक्रान्त आत्माएँ
तुम्हें क्या चाहिए
पिस्तौल या वायलिन!!

'आह्वान' यहां से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश ■ जनचेतना, जाफरा बाज़ार, **गोरखपुर** ■विजय इन्फार्मेशन सेण्टर, कचहरी बस स्टेशन, **गोरखपुर** ■ जनचेतना, डी-68, निरालानगर, **लखनऊ**-226020 ■राहुल फाउण्डेशन, 69, बाबा का पुरवा (पुराना), पेपरमिल रोड, निशातगंज, **लखनऊ** ■ विमल कुमार, बुक स्टाल, नीलगिरी काम्प्लेक्स के सामने, ईंदिरानगर, **लखनऊ** ■ प्रोग्रेसिव बुक सेण्टर, विश्वनाथ मन्दिर गेट, बी.एच.यू. परिसर, **वाराणसी,** ■शहीद पुस्तकालय, द्वारा डा. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, **मऊ** ■ राजेन्द्र प्रसाद, रेनु मेडिकल की गली, मुख्य सड़क, रेणुकूट, **सोनभद्र** ■ डी.के.सचान, एस.एच.-272, शास्त्रीनगर, **गाज़ियाबाद,** ■ अरुण कुमार चौबे, सर्वोदय बुक स्टाल प्लेटफार्म नं.-5 रेलवे स्टेशन **वाराणसी, कैण्ट वाराणसी,** ■ कृष्ण कुमार श्रीवास्तव, पुत्र श्रीशिवाशंकर श्रीवास्तव ग्राम व पोस्ट मधुकरपुर, जिला **रायबरेली,** ■ राहुल पुस्तक सेन्टर, निकट विजय श्री, खरौली कोठी स्टेशन रोड, **बलिया,** ■ जनचेतना, 989, पुराना कटरा, यूनीवर्सिटी रोड, मनमोहन पार्क, **इलाहाबाद,** ■सवद, 171, कर्नलगंज (स्वराज भवन के सामने) **इलाहाबाद**
■ सत्यम वर्मा, 29, यू.एन.आई. अपार्टमेण्ट, जी.एच.-2, सेक्टर-11, वसंधरा, गाज़ियाबाद
उत्तरांचल ■ विजय कुमार, 55/3, ई.डब्ल्यू.एस., आवास-विकास, **रुद्रपुर (ऊधमसिंह नगर)** ■ रवीन्द्र कुमार, भारतीय जीवन बीमा निगम, **पन्तनगर (ऊधमसिंहनगर)** ■ अविनाश श्रीवास्तव, 87, पन्त भवन, **पन्त नगर विश्वविद्यालय, (ऊधमसिंहनगर)** ■ रामपाल सिंह, भारतीय जीवन बीमा निगम, **रुद्रपुर (ऊधमसिंहनगर)** ■ प्रो. प्यारेलाल, 139, फूलबाग कालोनी, **पन्तनगर,** ■ अभिनव सिन्हा, रूम नं.-33, रामजस हास्टल **दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली** ■ **जनचेतना, चलता फिरता पुस्तक केन्द्र, चौड़ा मोड़, नोएडा (सायं 5 से 8 बजे तक)** ■ गीता बुक सेंटर, **जे.एन.यू.** ■बुक कार्नर, श्रीराम सेंटर, **मंडी हाउस** ■ पत्रिका मंडप, कला संकाय, **दिल्ली विश्वविद्यालय** ■ नई किरण पुस्तक भण्डार, 56, हरकेश नगर, **ओखला, दिल्ली**
हरियाणा ■ नरभिंदर सिंह, शहीद भगतसिंह विचार मंच, **हरियाणा,** ग्रा./पो.-संतनगर, जिला-**सिरसा,** पंकज, प्लाट नं.-33, सेक्टर 15, सोनीपत
पंजाब ■ राणा बुक स्टोर, निकट पी.यू.डी.ए. आफिस भागू रोड **भटिण्डा,**
बिहार ■समकालीन प्रकाशन (प्रा.लि.), पुस्तक बिक्री केन्द्र, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, ■ रामनरायण राय, द्वारा राघव पटेल, कपड़े की दुकान साहेबगंज पोस्ट करनौल, जिला **मुजफ्फरपुर,। बंगाल** ■जनार्दन थापा, लुकसान बाजार, पो. करेन, जि. **जलपाईगुड़ी** ■ सी.पी. सरोज, सनराइज स्कूल, छोटा अदलपुर, सेमलबाड़ी, **दार्जलिंग** ■राकेश गोरखा, पाथिभरा पुस्तक पसल, प्रधान नगर, **सिलीगुड़ी,** ■ मनोज गिरि, द्वारा लोकनाथ निराला, निकटआचार्य क्लब, नया बाजार **कर्सियांग-दार्जिलिंग। मध्य प्रदेश** ■विकल्प सांस्कृतिक मोर्चा, 22 स्वास्तिक काम्पलेक्स, रसेल चौक, जबलपुर, ■ जैनसन बुक शॉप एण्ड स्टेशनर्स, 33 वक्षी गली, वीरसावरकर मार्केट **राजवाड़ा इन्दौर। महाराष्ट्र** ■पीपुल्स बुक हाउस, 15 कावसजी पटेल स्ट्रीट, फोर्ट, **मुम्बई,** ■ वसुन्धरा, 602, गेटवे प्लाजा, हीरानन्दानी गार्डेन, पवई, **मुम्बई। राजस्थान** ■कविता, 4/2, (ग्राउण्ड फ्लोर), जवाहर नगर, **जयपुर** ■ बुक्स एण्ड न्यूज मार्ट, एम.आई.रोड, **जयपुर। असम** ■शर्मा बुक स्टाल, थाना रोड, चराली, **तिनसुकिया। नेपाल** ■विश्व नेपाली पुस्तक सदन, श्रवण पथ, बुटवल, **रुपनदेई**

घोषणा पत्र: प्रपत्र-1

पत्रिका का नाम	- आह्वान कैम्पस टाइम्स
आवर्तिता	- त्रैमासिक
भाषा	- हिन्दी
प्रकाशन स्थान	- गोरखपुर
प्रकाशक/स्वामी का नाम	- आदेश सिंह
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- 'संस्कृति कुटीर' - कल्याणपुर, गोरखपुर
मुद्रक का नाम	- आदेश सिंह
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- 'संस्कृति कुटीर' - कल्याणपुर, गोरखपुर
सम्पादक का नाम	- अभिनव
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- 'संस्कृति कुटीर' - कल्याणपुर, गोरखपुर
मुद्रणालय का नाम	- आफसेट प्रेस इलाहीबाग, गोरखपुर

मैं आदेश सिंह, यह घोषणा करता हूँ कि उपर्युक्त तथ्य मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार सत्य हैं।

हस्ताक्षर
आदेश सिंह
(प्रकाशक/मुद्रक/स्वामी)

समाज

बाबा की लीला

● अभिनव

आजकल किसिम-किसिम के बाबाओं का बड़ा जोर है। कोई जीतने की कला बता रहा है, कोई मित्र बनाने और सफल होने की तो कोई जीने की ही कला सिखा देने का दावा कर रहा है। एक ओर तो आसाराम बापू, रविशंकर, ओशोपंथी, सुधांशु महाराज, जैसे सन्यासी हैं, तो दूसरी ओर दीपक चोपड़ा, शिव खेड़ा, नॉर्मन विंसेंट पील जैसे मैनेजमेन्ट गुरू। लेकिन ये जीने की कला के दुकानदार हाल-फिलहाल में पैदा नहीं हुए हैं। अगर गुजरे कल पर एक निगाह दौड़ाई जाए तो हम पाएँगे कि पहली बार विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के बाद ही जीने की कला की दुकानें खुलने लगी थीं। पहले यह काम पादरी और मनोचिकित्सक किया करते थे। अब यह दायरा व्यापक हो चुका है। मैनेजमेण्ट के लोगों से लेकर सन्यासी और साधू तक यह काम कर रहे हैं। लेकिन मजे की बात तो यह है कि साधू-सन्यासी 'जीने की कला' सिखा रहे हैं। उनका सरोकार तो मनुष्य के इहलौकिक जीवन की बजाय जीवन के बाद के जीवन, यानी पारलौकिक जीवन में होना चाहिए। लेकिन जनाब, ये ऐसे सन्यासी नहीं हैं जो गुफा-कन्दराओं में रहते हों और कन्द-मूल पर जीते हों। ये हाई-टेक और टेक्नोलॉजी-सैवी बाबा हैं। ये मोबाइल फोन रखते हैं, ए.सी. कारों और हवाई जहाजों में चलते हैं, फाइव स्टार होटलों में ठहरते हैं और करोड़ों-अरबों रुपयों की सम्पत्ति के मालिक होते हैं।

इससे भी बड़ा मजाक यह है कि जो जीने की बुनियादी चीजें भी नहीं पैदा कर सकते, वो सिखा रहे हैं कि कैसे जिएँ!

लेकिन फिर भी बड़ी संख्या में लोग इन बाबा लोगों की शरण में जा रहे हैं। हर वर्ग के अपने बाबा और पंथ हैं। निम्न मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग के लोग जयगुरुदेव जैसे पंथों और सुधांशु महाराज जैसे बाबाओं के पास जाते हैं। नवधनाढ्य वर्ग के लोग ओशो, आसाराम बापू, श्री श्री रविशंकर जैसे सन्यासियों के पास जाते हैं। पढ़ा-लिखा शहरी मध्य वर्ग जो "आधुनिक" हो गया है, वह शिव खेड़ा, दीपक चोपड़ा, स्पेंसर जॉनसन और नॉर्मन विंसेंट पील जैसे मैनेजमेण्ट गुरुओं को पढ़कर ज़िन्दगी में जीत जाना चाहता है। इनमें तमाम किस्म की प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारियों में लगे युवा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आखिर क्यों लोग 'जीने की कला' बेचने वाले इन पंसारियों के पास जा रहे हैं, जो खुद जीने की बुनियादी जरूरतें भी नहीं पैदा कर सकते?

इन बाबाओं और मैनेजमेण्ट गुरुओं के पास हर वर्ग के लोग जा रहे हैं। वे भी जिनका भविष्य अनिश्चितता की अंधी गुफा में भटक रहा है और जिनके पास कोई विकल्प नहीं है, और वे भी जिनके पास 'भगवान का दिया सबकुछ' है, यानी वे खाए-अघाए लोग जिनके पास हर भौतिक सुख-सुविधा है लेकिन जिनका रिक्त, कंगाल मानस अध्यात्म की माँग करता है। पूँजीवाद में इंसान एक अदृश्य सत्ता का गुलाम होता है। यह अदृश्य सत्ता होती है माल (कमोडिटी) की, जिसे पैदा तो खुद इंसान करता है, मगर उसी की गुलामी करने लगता है। हर किसी का भविष्य बाजार में बिकने वाले माल की नियति से नत्थी होता है। मेहनतकश वर्ग और निम्न मध्य वर्ग में अपनी बदहाली और बेरोजगारी को लेकर गहरी निराशा व्याप्त है। यह जगह-जगह परिवार-सहित आत्महत्याओं और युवाओं द्वारा आतंकवाद का रास्ता पकड़ने के रूप में सामने आ रही है। यह स्थिति पूँजीवादी सत्ता के लिए भी बहुत अच्छी नहीं है।

ऐसे ही हालात में धर्म और अध्यात्म एक सस्ते इलाज के रूप में सामने आते हैं। वे निम्न वर्ग के लोगों को इस लोक में धैर्यवान और विनम्र बनने का पाठ पढ़ाते हैं; और बदले में?–बदले में उनके स्वर्ग जाने का रास्ता साफ! बस कुछ साल और इस नर्क को चुपचाप झेल लीजिये!

इस समाज में इंसान के ऊपर चीज़ों की हुकूमत कायम है। आम आदमी के लिए उत्पादन की पूरी प्रक्रिया रहस्यावरणों से ढकी होती है। युवा वर्ग को 'हाई सोसायटी' के दर्शन करा दिए जाते हैं, जो उसे मिल नहीं सकती। वह उसके पीछे भागता रहता है और एक दिन थककर निराश हो जाता है। फिर कोई आसाराम बापू या सुधांशु महाराज आते हैं अपने नशीले प्रवचन के साथ निराशा से उबारने। और अगर कोई इन बाबाओं के प्रवचन का दृश्य देखे तो

मार्क्स की वह प्रसिद्ध उक्ति बरबस ही जेहन में आ जाती है जिसमें उन्होंने धर्म को अफ़ीम कहा था। हजारों लोग अफ़ीमचियों की तरह बैठकर झूमते रहते हैं। इन बाबाओं के अलावा कई छद्म विज्ञानों को भी खड़ा किया जा रहा है जैसे रेकी, प्राणिक हीलिंग, जेनपंथ, ताओपंथ, होलिस्टिक मेडिसिन, फेंग शुई वगैरह। वैकल्पिक चिकित्सा के नाम पर इन ढकोसलों को धंधेबाज़ विज्ञान बता रहे हैं। अलगाव के मारे युवा वर्ग को यह भी लुभाता है। इसके अलावा नवधनाढ्य वर्ग, जो डंडी मारते-मारते आज गाड़ी, नौकरों, बंगले आदि हर सुविधा से लैस हो गया है, वह भी अपने पापबोध से मुक्ति के लिए इन बाबाओं की शरण में आता है। कुछ बाबा तो दान-दक्षिणा द्वारा स्वर्ग में सीट आरक्षित करने का सस्ता और टिकाऊ रास्ता बताते हैं। कुछ बाबा और ज्यादा रैडिकल होते हैं। वह बताते हैं कि 'शिष्य! तुम जिसे पाप समझते हो, वह पाप नहीं! वह तो जग की रीत है! ऊँच-नीच तो परमात्मा की लीला है। दुख क्या है? सुख क्या है? सब माया है!' इस तरह के प्रवचनों से आत्मा की ठण्डक पाकर सेठ-व्यापारी अपनी-अपनी कारों में वापस चले जाते हैं और फिर 'जग की रीत' का निर्वाह करने लगते हैं, यानी डंडी मारना जारी कर देते हैं। बदले में इन बाबाओं को दे जाते हैं सोना-चाँदी या हरी पत्ती की गड्डियाँ।

इससे अलग शहरी उच्च मध्य वर्ग अपने जीवन के घिसे-पिटे ढर्रे से ऊबकर श्री श्री रविशंकर और ओशो जैसे बाबाओं के पास जाता है। बाबाओं की ये नस्ल इंद्रियभोगवाद को अध्यात्म और धर्म की चाशनी में डुबोकर परोसती है और सेक्स-सम्बन्धी सामाजिक वर्जनाओं से इस आधुनिक शहरी उच्च मध्य वर्ग को मुक्त कर देती है। ये बताते हैं कि ईश्वर से साक्षात्कार का रास्ता सेक्स है (ओशो की पुस्तक 'सम्भोग से समाधि तक') या धर्म के मुँह से कहलवाते हैं–'खाओ-पियो-मौज करो'। (श्री श्री रविशंकर–'आर्ट ऑफ लिविंग') ये सन्यासी भी एक किस्म के पापबोध से इस वर्ग के लोगों को मुक्त कराते हैं। फराने समाज की 'नैतिकता' को मूर्खता बताते हैं और एकदम दूसरे छोर पर जाकर लम्पटई को जीने की आदर्श कला के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस कला के दर्शन तो सबको हो जाते हैं मगर इस महँगी जीवन-शैली में घुस पाना हरेक के बूते की बात नहीं होती।

उच्च और उच्च मध्यमवर्गीय जीवन का घोर अलगाव भी लोगों को इन आधुनिक बाबाओं की शरण में भेजता है। सामाजिक अकेलेपन और मित्रविहीनता के शिकार ये लोग अपने मूल्यबोध में घोर व्यक्तिवाद के कारण किसी भी किस्म की स्वस्थ सामूहिकता को तो पसंद नहीं करते, लेकिन इन बाबाओं के यहाँ होने वाले कर्मकाण्डों में उन्मादी भीड़ का हिस्सा बनकर कुछ देर के लिए अपने अकेलेपन से मुक्ति पा जाते हैं। यह अलग बात है कि यह क्षणिक तुष्टि उन्हें बार-बार नशे की खुराक की तरह ऐसे "सत्संगों" में खींचकर ले आती है जहाँ पश्चिमी संगीत की तेज बीट और रहस्यमय रोशनियों के बीच वे घंटों उछल-कूद करते रहते हैं।

इस पूरे नाटक का सबसे विद्रूप दृश्य प्रस्तुत करती हैं उच्च वर्ग की मुटियाई-अघाई सेठानियाँ। ये धार्मिक होने की प्रेरक शक्ति को एकदम नंगे रूप में दिखला देती हैं। हर 15 दिनों के बाद या तो किटी पार्टी होती है या जागरण। जागरण में पारलौकिक जीवन के अच्छे होने की कामना नहीं होती है, बल्कि यह कामना होती है–

देवी माता जब भी देंगी
देंगी छप्पर फाड़कर।
बैंक होगा, लॉकर होंगे
घर में नौकर-चाकर होंगे।

खा-खाकर अघाई इन स्त्रियों की देवी माता से यही प्रार्थना होती है!

एक सवाल और पैदा होता है। जो पूँजीवाद कभी धर्म की सत्ता से लड़ा था, वह क्यों इन ढोंगी बाबाओं का शरणदाता बना हुआ है?

धर्म और अध्यात्म का आज एक विस्तृत व्यापारिक-औद्योगिक तंत्र है। बल्कि कहें कि अध्यात्म स्वयं ही एक व्यापार है। आज पूँजीवाद धर्म का विरोधी होने की बजाय उसे भौतिक आधार दे रहा है। जिस समाज में इंसान अपना भाग्य-निर्माता स्वयं नहीं होता और वस्तुएँ असका भाग्य निर्धारित करती हैं, वहाँ आदमी धर्म की शरण में जाता है। बदले में धर्म बाजार में कुछ गति पैदा कर देता है। मंदी के हाथों पिटते पूँजीवाद को कुछ राहत मिलती है। आसाराम बापू, सुधांशु महाराज, तमाम अम्माएँ, ओशो, श्री श्री रविशंकर, आदि के नाम के तौलिये, पेन, ताबीज, कॉपी, माला, किताबें, कैलेण्डर, पोस्टर, स्टिकर, मोबाइल फोन के कवर, घड़ी, बेल्ट, आदि के उत्पादन का एक विराट तंत्र है। इनके उत्पादन में लगे बहुत से लोग श्रद्धावश कोई मेहनताना नहीं लेते या नाममात्र की कोई राशि लेते हैं। साथ ही, बहुत से कारीगरों को 'धर्म के काम' के नाम पर बहुत कम मज़दूरी देकर काम करवाया जाता है। लेकिन ये सामान बाज़ार में ऊँची दरों पर बिकता है और श्रद्धालु इन्हें खरीदते हैं–धर्म के नाम पर। अगर आप इनके आश्रमों में जाएँगे तो पाएँगे कि इनके अपने अस्पताल चलते हैं, पूज्य बाबा के नाम पर दवाओं का व्यापार होता है। दक्षिण में धर्म को चिकित्सा और योग से जोड़ दिया जाता है। योग में काम आने वाली चटाई, बेलन आदि को बनाने वाले भी आम तौर पर निशुल्क सेवा देते हैं। इसके अलावा अधिकांश बाबाओं की प्रवचन सभाओं के बाहर मर्दानगी की दवाएँ बिकती रहती हैं।

इस तरह धर्म के नाम पर अति लाभ निचोड़ा जाता है। मंदी की मार से अधमरे पड़े बाजार में कुछ गति आती है। बाजार में गति आने से मरगिल्ले, कुपोषित, और मरभुक्खे पूँजीवाद में कुछ जान आती है। तो ऐसे 'जीवनदायी' धर्म को पूँजीवाद क्यों न गले से लगा ले! क्यों न उसके अस्तित्व की रक्षा करे जो शासक वर्गों के अत्याचार को "जग की रीत" और "ऊपर वाले की लीला" बतलाता है!

धर्म और पूँजीवाद के बीच के इस अपवित्र गठबन्धन को पहचानना होगा। जानना होगा कि बाबा की लीला से पूँजीवाद को क्या मिला!

●

शिक्षा

यू.जी.सी. के 'मॉडल एक्ट' का प्रारूप : बाज़ारीकरण का रामबाण नुस्खा

उच्च शिक्षा का बाज़ार-फार्मूला : 'औकात हो पाओ, नहीं तो जहन्नुम में जाओ'

● अंशुल

वर्ष 2004 उच्च शिक्षा के लिए महत्वपूर्ण नीतिगत परिवर्तन का वर्ष रहा है। पूँजीवादी जनवाद अब शिक्षा के क्षेत्र में एकदम नहीं लागू होगा। सरकार अपनी जिम्मेदारियों से पूरी तरह हाथ खींच लेने का नीतिगत निर्णय कर चुकी है। विश्वविद्यालयों और उच्च शिक्षा संस्थानों को पूरी तरह से देशी-विदेशी पूँजीपतियों-व्यापारियों के हवाले कर देने के लिए 'मॉडल ऐक्ट' का खाका तैयार किया जा चुका है। आगामी लोकसभा चुनावों के बाद चाहे भाजपा-गठबंधन सत्तारूढ़ हो या कांग्रेस गठबंधन, इस कानून को पास होना ही है क्योंकि यह शिक्षा नीति निजीकरण-उदारीकरण की उन्हीं नीतियों का एक बुनियादी और जरूरी अंग है, जिनपर सभी बुर्जुआ पार्टियों की आम सहमति है।

मुनाफे की अंधी होड़ और हवस से पैदा हुए पूजीवादी तंत्र के संकट ने शासक वर्ग को विवश कर दिया है कि शिक्षा को सिद्धान्त रूप में सामाजिक आवश्यकता और जनता का बुनियादी अधिकार मानने के पाखण्डपूर्ण दिखावे से वह पूरी तरह से पीछा छुड़ा ले और उसे पूरी तरह से बाज़ार की निर्बंध शक्तियों के हवाले कर दे। पूँजीवादी उत्पादन और विनिमय के तंत्र के हिसाब से लोगों को शिक्षित-प्रशिक्षित करने का काम देशी-विदेशी पूँजीपति खुद करेंगे और ऐसा करते हुए वे शिक्षा के इस कारोबार से भी अकूत मुनाफा निचोड़ेंगे। सरकार अब तक उच्च शिक्षा के लिए जो भी अनुदान देती थी, वह जनता का ही पैसा होता था जो परोक्ष करों के जरिए सरकारी तिजोरी में जाता था। करों की वह वसूली तो पहले से भी अधिक हो रही है, लेकिन शिक्षा के लिए अनुदान खतम किया जा रहा है। परोक्ष

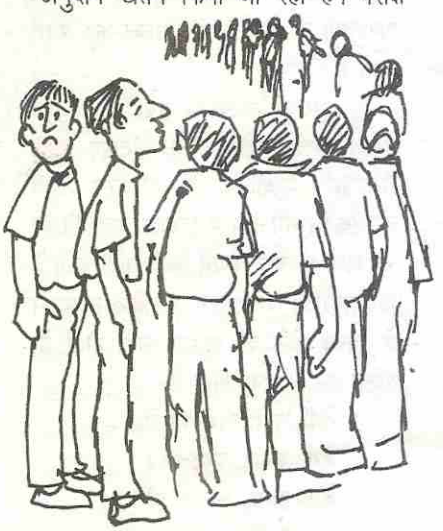

करों की वसूली से, और सब्सिडी घटाकर उस घाटे की भरपाई की जायेगी जो पूँजीपतियों-व्यापारियों को दी जाने वाली तरह-तरह की छूटों से तथा उनसे वसूले जाने वाले प्रत्यक्ष करों में लगातार दी जाने वाली रियायतों से सरकार को हो रही है। गौरतलब है कि शिक्षा-अनुदान और सार्वजनिक कार्यों में दी जाने वाली हर तरह की सब्सिडी से हाथ खींचते हुए सरकार लगातार पूँजीपतियों को तरह-तरह से सब्सिडी दे रही है और साथ ही उन सरकारी खर्चों में भी लगातार बढ़ोत्तरी हो रही है जिनके अन्तर्गत मंत्रियों-एम.पी.-एम.एल.ए. आदि के वेतन-भत्ते तथा सरकार और नौकरशाही तंत्र के सभी खर्चे आते हैं।

●

भाजपा सरकार द्वारा प्रस्तावित 'मॉडल एक्ट' वस्तुतः उसी अम्बानी-बिड़ला कमेटी की सिफारिशों पर आधारित है, जिसे शिक्षा के क्षेत्र में बदलावों की रूपरेखा तैयार करने की जिम्मेदारी दी गयी थी। तमाम शिक्षाशास्त्रियों और अकादमीशियनों की बजाय शिक्षा-नीति तैयार करने का काम जब मुनाफाखोरों के दो सरदारों के नेतृत्व वाली कमेटी को सौंपा गया, उसी समय यह स्पष्ट हो चुका था कि सरकार करना क्या चाहती है! उच्च शिक्षा को स्ववित्तपोषित बनाना अम्बानी-बिड़ला कमेटी की सर्वोपरि और केन्द्रीय सिफारिश है।

नये विश्वविद्यालय अधिनियम के प्रारूप के रूप में प्रस्तावित 'मॉडल एक्ट' की मूल और मुख्य अन्तर्वस्तु यह है कि विश्वविद्यालयों को सरकार की ओर से मिलने वाली वित्तीय मदद क्रमशः पूरी तरह बन्द कर दी जायेगी और पूँजी एवं संसाधनों की व्यवस्था पूरी तरह से उच्च शिक्षा संस्थानों को स्वयं ही करनी होगी। इसके अतिरिक्त उपाधियाँ और डिग्रियाँ बाँटने की कालेजों को खुली छूट होगी और जगह-जगह दुकानों की ही तरह वे अपनी शाखाएँ भी खोल सकेंगे जैसाकि आज भी यूरोप-अमेरिका के बहुतेरे दोयम दर्जे के निजी विश्वविद्यालय करते हैं। जाहिर है कि अपना खर्च जुटाने

के लिए विश्वविद्यालय और कालेज मुख्यतः छात्रों से वसूली जाने वाली फीस पर ही निर्भर होंगे। नतीजतन, फीसें इस हद तक बढ़ जायेंगी कि आम मध्यवर्गीय परिवार का युवा भी परिसर से बाहर हो जायेगा। शोध आदि के लिए शिक्षा संस्थान पूरी तरह से पूँजीपति घरानों, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ओर फण्डिंग एजेंसियों पर निर्भर हो जायेंगे। जाहिर है कि जो पैसा देगा, शोध परियोजनाओं की रूपरेखा भी अपने हितों एवं मुनाफे के मद्देनजर वही तय करेगा। इन हालात में, समाज विज्ञान और साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में गम्भीर और स्वतंत्र शोध-अध्ययन की रही-सही सम्भावनाएँ भी समाप्त हो जायेंगी। यही नहीं, प्रबंधन और नयी तकनोलॉजी की उपशाखाओं में ही कुछ शोध संभव होंगे और वह भी उसी हद तक जितना कारखानों और व्यावसायिक प्रतिष्ठानों को जरूरत होगी। सैद्धान्तिक विज्ञान के क्षेत्र में तो भारत जैसे पिछड़े देशों में शोध की पहले से ही सीमाएँ रही हैं, अब यह दायरा संकुचित होकर न के बराबर हो जायेगा।

वैसे देखा जाये तो 'मॉडल ऐक्ट' के इन प्रावधानों को अपने शासकीय निर्देशों-अनुदेशों के जरिए किश्तों में लागू करने का काम सरकार पहले ही शुरू कर चुकी है। मुख्यतः साठ और सत्तर के दशक में स्थापित जिन आर्थिक एवं सामाजिक अध्ययन-शोध संस्थानों को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और विभिन्न मंत्रालयों से सहायता मिला करती थी, वे अब लगभग पूरी तरह देशी पूँजीपतियों, विदेशी कम्पनियों और फण्डिंग एजेंसियों पर निर्भर हो गये हैं तथा अकादमिक क्षेत्र के एन.जी.ओ. की तरह काम कर रहे हैं। 'ऑक्सफेम' जैसी संस्थाएँ विश्वविद्यालयों में 'वुमन स्टडीज' जैसे पाठ्यक्रम अपने धन से चलवा रही हैं, जिन्हें यू.जी.सी. की मान्यता प्राप्त है। तकनीकी शिक्षा संस्थानों में यह काम और अधिक खुले रूप में और बड़े पैमाने पर हो रहा है।

अपने संसाधन स्वयं जुटाने के लिए फीसों के अतिरिक्त कालेज और विश्वविद्यालय अपनी जमीनों पर दुकानें एवं व्यावसायिक प्रतिष्ठान खोलेंगे और देशी-विदेशी पूँजीपतियों के प्रोजेक्ट्स पर काम करने की शर्तों को मानकर उनसे पैसे लेंगे। बाजार में अपना भाव बढ़ाने के लिए सभी कालेज-विश्वविद्यालय उसी तरह मीडिया में अपना विज्ञापन करेंगे, जैसे आज निजी क्षेत्र के तकनीकी व्यावसायिक शिक्षा संस्थान और कुछ विदेशी विश्वविद्यालय करते हैं। कहा जा सकता है कि कैम्पस अब जल्दी ही भव्य-लकदक 'शापिंग माल' सरीखे हो जायेंगे, जिनमें घुसने की बात सोचकर ही आम आदमी सहम जाता है।

जाहिर है कि 'मॉडल ऐक्ट' के लागू होने के बाद सरकार, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और विश्वविद्यालय प्रशासन अपना संसाधन स्वयं जुटाकर शिक्षा की दुकान चलाने वाले सम्बद्ध कालेजों की प्रबन्ध-समितियों और शिक्षकों के बीच से अलग हट जायेंगे और शिक्षकों-शिक्षणेतर कर्मचारियों तथा कालेज प्रबंधकों के बीच का सम्बन्ध व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के मालिकों और उनके अस्थायी कर्मचारियों/ठेका मज़दूरों के बीच के सम्बन्धों जैसा हो जायेगा। सरकार अनुदान बन्द करने के बाद विश्वविद्यालयों-कालेजों के प्रशासन को सेवा शर्तों तथा वेतनमान आदि के बारे में भी आम दिशा-निर्देश से ज्यादा कुछ नहीं आदेश दे सकेगी और वे आम दिशा-निर्देश भी बाध्यताकारी नहीं होंगे। रिक्त स्थानों पर स्थायी नियुक्तियों के बजाय ठेके पर अस्थायी नियुक्तियाँ करने और प्रति क्लास के हिसाब से भुगतान की इजाजत देकर इस दिशा में प्रारम्भिक प्रयोगों की पहले ही शुरुआत की जा चुकी है।

'मॉडल ऐक्ट' के क्रियान्वयन के बाद, उच्च शिक्षा के परिसरों-विशेषकर महानगरीय विश्वविद्यालयों के परिसरों के वर्ग-चरित्र में जो क्रमिक बदलाव पहले से ही जारी था, वह छलाँग लगाकर अपनी तार्किक परिणति तक जा पहुँचेगा। कुलीन, उच्चमध्यवर्गीय छात्रों का ही वहाँ पूर्ण वर्चस्व होगा। आम छात्र इन कैम्पसों की महँगी दुर्लभ शिक्षा से वंचित होंगे। जिन्हें बहुत हसरत होगी, वे पत्राचार या दूरस्थ शिक्षा के द्वारा या सुदूर कस्बों के कालेजों में पढ़कर अपने मन को तसल्ली दे देंगे।

दिलचस्प बात यह है कि 'माडल ऐक्ट' का प्रारूप एक ओर जहाँ प्रबंधन-प्रशासन आदि के मामले में शिक्षा को पूरी तरह मुनाफाखोरों के हवाले करने की बात करता है, वहीं दूसरी ओर पाठ्यक्रम तय करने आदि शिक्षा नीति विषयक सभी मामलों में विश्वविद्यालयों को रही-सही स्वायत्ता को भी हड़पकर पूरी तरह मंत्रालय और नौकरशाहों के सुपुर्द कर दिया गया हैं। जोशी जी डंके की चोट पर फरमा रहे हैं कि शिक्षा मंत्रालय का यह दायित्व और अधिकार है कि वह तय करे कि क्या पढ़ाया जाये और देश को क्या जरूरत है! यानी शिक्षा शास्त्री और अकादमीशियन जायें चूल्हें भाड़ में! बुर्जुआ जनवाद के अंतर्गत जो सरकारें हमेंशा से ही बुर्जुआ वर्ग की 'मैनजिंग कमेटी' की भूमिका निभाती रही हैं, लेकिन निर्बन्ध बाज़ारीकरण के वर्तमान दौर में जब सब कुछ 'खुला खेल फर्रूखाबादी' है तो सरकार खुले तौर पर यह भूमिका निभाने लगी है। यानी शिक्षा से पूँजीपति मुनाफा कमायेंगे और साथ ही अपने प्रतिष्ठानों के लिए बौद्धिक शारीरिक उजरती गुलाम तैयार करेंगे। सरकार ऐसी शिक्षा का प्रारूप तैयार करेगी और साथ ही इस बात की भी देखरेख करेगी कि राजकाज और सामाजिक ढ़ाँचें को चलाने सम्हालने वाले कुछ पूँजीवादी बुद्धिजीवी भी तैयार होते रहें। यह काम 'उच्च शिक्षा विकास आयोग' करेगा। जी हाँ, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का यही नया अवतार होगा। जब अनुदान देना ही नहीं है तो 'अनुदान आयोग' नाम का वैसे भी कोई मतलब नहीं रह गया था।

यू.जी.सी. ने 'माडल ऐक्ट' के प्रारूप में इस बात को बेशर्मी के साथ, खुली भाषा में बयान किया है कि उच्च शिक्षा के भूमण्डलीकरण के बाद भारत में निजी एवं विदेशी विश्वविद्यालयों के खुलने की असीम संभावनाएँ पैदा हो गयी हैं। यहाँ यह याद दिलाना जरूरी है कि 'गैट' समझौते पर दस्तखत के बाद भारत उच्च शिक्षा के उदारीकरण के लिए साम्राज्यवादियों के साथ करार से बंध चुका है। उसकी यह बाध्यता है कि 2005 तक वह निजी एवं विदेशी

विश्वविद्यालयों को शिक्षा का धन्धा करने के लिए 'प्रतियोगिता का समतल मैदान (लेवेल प्लेइंग फील्ड) मुहैया कराये। वैसे प्रस्तावित कानून के अस्तित्व में आने से पहले ही दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, बंगलौर जैसे महानगरों में निजी एवं विदेशी विश्वविद्यालयों की बाढ़ सी आ गयी है और अखबारों के पन्ने, विशेषकर सत्रारम्भ के मौसम में, इनके विज्ञापनों से भरे रहते हैं।

●

एक ओर तो यू.जी.सी. ने मॉडल ऐक्ट का प्रारूप विश्वविद्यालयों को सुझाव माँगने की रस्म अदायगी के लिए भेजा है, दूसरी ओर विश्वविद्यालयों की स्वायत्ता को खत्म करने और भावी कानून के प्रावधानों को अघोषित तौर पर लागू करने की शुरुआत भी कर दी है। इसकी महत्वपूर्ण शुरुआत दिल्ली विश्वविद्यालय से हुई है। जनवरी के प्रारंभ में यू.जी.सी. ने एक निर्देश भेजकर दिल्ली विश्वविद्यालय के एक लाख बीस हजार छात्रों में से साठ हजार छात्रों की पढ़ाई का अनुदान खत्म कर दिया।

ज्ञातव्य है कि दिल्ली विश्वविद्यालय अध्यादेश के अनुसार किसी भी कालेज में 1000 से अधिक छात्रों का दाखिला नहीं हो सकता। लेकिन दाखिले की बढ़ती जरूरतों के मद्देनजर बरसों पहले शिक्षा मंत्रालय ने डी.यू. कालेजों को 'एक्सटेंडेड' (विस्तारित) कालेजों का दर्जा देते हुए उन्हें तय सीटों से अधिक दाखिले का अधिकार दिया था और यू.जी.सी. के तदनुरूप अपना अनुदान भी बढ़ा दिया था। इधर फिर छात्रों की भारी आबादी के चलते दाखिले की समस्या गंभीर हो चली थी और ईवनिंग कालेजों की संख्या बढ़ाने की माँग गत तीन-चार वर्षों से लगातार उठाई जा रही थी, लेकिन इसके उलट यू.जी.सी. ने अनुदान आधा करके सीटों में कटौती का फरमान जारी कर दिया। अब चालीस डी.यू.कालेजों को औसतन 2500 की कटौती करके सीटों की संख्या 1000 पर लानी होगी। कहने की जरूरत नहीं कि इस तुगलकी फरमान से सीधा लाभ दिल्ली में लगातार शाखाएँ खोलते जा रहे विदेशी और निजी विश्वविद्यालयों को होगा। दिल्ली वि.वि. के कालेजों से करीब साठ हजार छात्र उनके खाते में ट्रांसफर हो जायेंगे। जहाँ तक गरीब और निम्नमध्यवर्गीय घरों के छात्रों की बात है, तो उनके लिए तो अब दरवाजे लगभग पूरी तरह से बन्द ही हो चुके हैं।

उल्लेखनीय है कि पिछले ही वर्ष पत्राचार विभाग की भी फीस बढ़ाकर दूनी कर दी गयी, जबकि इस बढ़ोत्तरी के एवज में छात्रों की कोई अतिरिक्त शैक्षणिक सुविधा नहीं दी गयी। इसके चलते पिछले वर्ष के 68,000 के मुकाबले इस वर्ष मात्र 60 हजार छात्रों ने ही पत्राचार द्वारा शिक्षा के लिए पंजीकरण कराया।

यू.जी.सी. ने सीटें घटाने का अपना उपरोक्त निर्देश दिल्ली विश्वविद्यालय को न भेजकर सीधे सम्बद्ध कालेजों के प्रशासन प्रबंधन को भेजा है। यानी कानून तो जब बनेगा तब बनेगा, विश्वविद्यालय की स्वायत्ता पर आघात करने का काम अभी से शुरू कर दिया गया है।

विश्वविद्यालयों की स्वायत्ता खत्म करने की प्रक्रिया में कुलपतियों की भूमिका भी प्रायः सरकारी टट्टू की ही होती है, क्योंकि स्वयं उनकी नियुक्ति भी वस्तुतः राजनीतिक ही होती है। कभी प्रगतिशील होने के दम भरने वाले दिल्ली वि.वि. के कुलपति द्वारा रजिस्ट्रार पद पर आई.ए.एस. अधिकारी की नियुक्ति और शिक्षक संगठनों के विरोध के बावजूद अपना फैसला न बदलना इसी का द्योतक है। यही सिलसिला देश के लगभग सभी विश्वविद्यालयों में जारी है। अनुदानों में कटौती के मामले में भी राज्यों की सरकारें यू.जी.सी. से एक कदम भी पीछे नहीं है। हर राज्य में, चाहे किसी भी पार्टी की सरकार हो, अनुदान कटौती लगातार जारी है। वर्षों से रिक्त पदों पर नियुक्तियाँ नहीं हो रही हैं, नये पद सृजन की तो बात ही दूर है! अशंकालिक, ठेके के प्राध्यापकों से काम चलाने का सिलसिला अधिकांश राज्यों के विश्वविद्यालयों में जारी है।

●

पिछले दिनों मानव संसाधन मंत्री ने जब तकनीकी एवं प्रबंधन शिक्षा के संस्थानों की फीस घटाने की बात की और इसके भी पहले न्यायपालिका ने जब मेडिकल कालेजों व इंजीनियरिंग कालेजों के 'डोनेशनों' में बेतहाशा बढ़ोत्तरी पर नियंत्रण की बात की तो बुर्जुआ मीडिया के भाड़े के कलमघसीटों ने इसे यूँ प्रस्तुत किया मानो सरकार और न्यायपालिका का यह रुख आम जनता की चिन्ता करने का द्योतक हो। आइये, जरा इस मिथ्याभास की कुछ परतें उतारकर सच्चाई की पड़ताल की जाये।

पूँजीवाद की मौजूदा जरूरतों के हिसाब से, बाजार में प्रबंधकों और कम्प्यूटर, इलेक्ट्रानिकी, सूचना तकनोलॉजी जैसे कुछ क्षेत्रों के तकनीकविदों की जो माँग है, उसका लाभ उठाते हुए शिक्षा के व्यवसायी अन्धाधुन्ध मुनाफा बढ़ाते जा रहे थे। अब यह सीमा वहाँ जा पहुँची थी कि सिर्फ काले धन वाले नौकरशाह और धनपशु ही अपने लाडलों को डोनेशन या भारी-भरकम फीस देकर पढ़ा सकते थे। एक खुशहाल मध्य वर्ग के व्यक्ति के लिए भी यह लगभग नामुमकिन हो गया था। अब यह पूँजीवादी व्यवस्था की जरूरत थी कि वह लूट की इस बेतहाशा रफ्तार पर कुछ अंकुश लगाये और अपने सामाजिक अवलम्ब के तीव्र क्षरण-संकुचन को रोके। फीसों को घटाने की जो सीमा प्रस्तावित है, वह लागू होने पर भी ग़रीब मज़दूर का तो दूर एक आम मध्यवर्ग का होनहार सपूत भी प्रबंधन एवं तकनीकी या चिकित्सा शिक्षा के इन उच्च संस्थानों तक नहीं पहुँच सकता। दूसरी बात, इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। प्रबंधन और तकनोलॉजी के क्षेत्र में देशी-विदेशी पूँजीपतियों को वास्तव में कुछ योग्य हाथों की जरूरत है, तकि वे उजरती मज़दूरों को चूसकर मुनाफा पैदा कर सकें। शिक्षा के व्यवसाय में मुनाफाखोरी को वे उस हद तक नहीं बढ़ने देना चाहेंगे कि धनपशुओं के बिगड़ैल मतिमंद कुलदीपकों से ही प्रबंधन व तकनीकी शिक्षा के संस्थान भर जायें। खुशहाल मध्य वर्ग से यदि कुछ योग्य युवा नहीं आयेंगे तो कारखानों से लेकर वित्तीय संस्थानों और सेवा क्षेत्र के उपक्रमों को भी चला पाना संभव नहीं होगा। यानी, सरकार की फीस वृद्धि और डोनेशन पर नियंत्रण की चिन्ता के पीछे जनता की नहीं बल्कि पूँजीपतियों और पूँजीवादी व्यवस्था के हित की चिन्ता काम कर रही है। प्रबंधन एवं तकनीकी शिक्षा संस्थानों की स्वायत्तता को लेकर भी पिछले

दिनों जो बहस उठ खड़ी हुई थी, वह पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर ही, नीति-नियामकों के दो धड़ों के बीच के मतभेदों की अभिव्यक्ति मात्र थी, और कुछ भी नहीं।

●

'सर्व शिक्षा अभियान' का लोकलुभावन बैलून उड़ाते हुए मान्यवर जोशी जी ने फर्माया है कि उच्च शिक्षा की कीमत देनी होगी, लेकिन बुनियादी शिक्षा निःशुल्क और सबके लिए होगी। अब यह तो सीधे ठगी वाली बात है। परोक्ष करों के जरिए बुनियादी से लेकर उच्च शिक्षा का तंत्र चलाने के लिए खर्चा तो एक हजार एक रास्तों से आम जनता आज भी पहले की ही तरह देती आ रही है। जिस चीज की कीमत अदा की जा चुकी हो, उसे फिर से बेचना तो ठगी ही है। दूसरी बात, शिक्षा चाहे जिस श्रेणी और जिस स्तर की हो, वह समाज की बुनियादी जरूरत और हर नागरिक का बुनियादी अधिकार है, सिद्धान्त रूप में पूँजीवादी जनवाद के सिद्धान्तकार भी इस बात को स्वीकार करते रहे हैं। अब जब इसे घोषित तौर पर बिकाऊ माल बनाया जा रहा है, तो यह पूँजीवादी जनवाद के छद्मों के निरावरण का ही नहीं बल्कि उसके ऐतिहासिक अवसान का भी एक महत्वपूर्ण संकेतक है।

जहाँ तक 'सर्व शिक्षा अभियान' की बात है, सर्वोपरि तौर पर एक लोकरंजक शिगूफा है और तात्कालिक तौर पर एक चुनावी 'हवा मिठाई' भी है। अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं तक को सन्देह है कि भारत सरकार इस काम को कर सकेगी। लेकिन इस शिगूफे का एक दूसरा वस्तुपरक पहलू भी है। पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली आज इतनी उन्नत एवं आधुनिक हो चुकी है उसमें खटने वाले निकृष्टतम कोटि के उजरती गुलाम के लिए भी एक हद तक की उन्नत चेतना जरूरी है। यानी आबादी के रसातली संस्तरों तक भी शिक्षा की रोशनी एक हद तक पहुँचाना जरूरी है ताकि पूँजीपति नयी, उन्नत, स्वचालित मशीनों पर लगाकर मेहनतकशों की श्रमशक्ति का दोहन कर सकें। यानी, सब तक तो नहीं (वह मुमकिन भी नहीं है), लेकिन विपन्न मेहनतकश आबादी के एक हिस्से के लिए प्राथमिक, मिडिल और हाईस्कूल तक की शिक्षा को सम्भव बनाना आज के पूँजीवाद की जरूरत है।

●

यह इतिहास की स्वयंसिद्ध स्थापना है कि किसी भी देश की शिक्षा व्यवस्था उस देश की आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप होती है और शासक वर्ग की हितसाधिता होती है। उसकी कमान तमाम जनवादी छद्मावरणों की आड़ में पूरी तरह से राज्यसत्ता के हाथों में होती है। भूमण्डलीकरण के नये साम्राज्यवादी दौर की वैश्विक पृष्ठभूमि में, हमारे देश में भी न केवल आर्थिक मूलाधार के स्तर पर, बल्कि शिक्षा-संस्कृति सहित अधिरचना के हर धरातल पर श्रम और पूँजी के बीच का ध्रुवीकरण एकदम तीखा हो चुका है। "कल्याणकारी" राज्य और राजकीय

पूँजीवाद का ज़माना बीत चुका है। स्वास्थ्य-शिक्षा सबकुछ बिकाऊ माल बन चुके हैं। पूँजीवादी जनवाद चतुर्दिक क्षरित-विघटित हो रहा है और फासीवादी प्रवृत्तियाँ अनेकशः रूपों में सिर उठा रही हैं। यह जो पूँजीवाद की आम दिशा और प्रवृत्ति है, शिक्षा के क्षेत्र में जारी नीति-परिवर्तन का सिलसिला भी इसी की एक अभिव्यक्ति एवं प्रतिफलन है।

कैम्पसों के वर्ग-चरित्र में परिवर्तन और उनके कुलीनीकरण के साथ ही छात्रों-युवाओं के सामने अब एकमात्र विकल्प यही है कि शिक्षा के बुनियादी अधिकार और शिक्षण-संस्थाओं के जनवादीकरण के आन्दोलन को कैम्पस से बाहर सड़कों पर लाया जाये, समाज में लाया जाये और उसे एक व्यापक छात्र-युवा आन्दोलन के रूप में संगठित किया जाये। 'समान शिक्षा, सबको रोजगार' का नारा यदि बेरोजगार-अर्द्धबेरोजगार-छँटनीशुदा-अधिकारवंचित मेहनतकशों की करोड़ों की आबादी के माँगों के साथ जुड़ेगा, तभी एक प्रचण्ड वेगवाही तूफान का सृजन हो सकेगा। जनवादी चेतना के शिक्षकों और शिक्षणेतर कर्मचारियों के सामने भी अब सिवाय इसके कोई रास्ता नहीं है कि वे अपनी जनविमुख कुलीनता, आत्मकेन्द्रण और पेशागत संकुचित मनोवृत्ति को छोड़कर शिक्षा के निजीकरण एवं उदारीकरण के विरुद्ध एक राजनीतिक संघर्ष के लिए एकजुट हों और इस संघर्ष को जनता के अन्य हिस्सों के संघर्षों से जोड़ें। इस राह में समस्याएँ तो बहुत हैं। यूनियनों का नौकरशाह नेतृत्व और मात्र संकीर्ण आर्थिक हितों को ही ध्यान में रखने की आदत भी इन्हीं बाधाओं में से एक है। लेकिन हालात शिक्षा क्षेत्र के सभी घटकों को सोचने के लिए ज्यादा से ज्यादा विवश कर रहे हैं। हमें अपनी तैयारी तेज कर देनी होगी।

विश्व पटल पर

साम्राज्यवाद के रथ का चक्का अरब के रेगिस्तानों में फँसा

• शिशिर

कभी-कभी रेगिस्तान के भुरभुरे बालू में आदमी बिल्कुल इस तरह धँस जाता है जैसे कि वह दलदल हो। अमेरिकी साम्राज्यवादी हाथी मध्य-पूर्व के रेगिस्तान में दलदल से भी बुरी तरह जा धँसा है। अभी इराक पर अमेरिकी कब्जा हुए ज्यादा दिन नहीं बीते हैं और इस बर्बर साम्राज्यवादी युद्ध की तार्किक परिणतियाँ दिखने लगी हैं।

युद्ध समाप्ति के बाद से छापामार हमलों में मारे जाने वाले अमेरिकी सैनिकों की संख्या 500 को पार कर चुकी है। अमेरिका को उम्मीद थी कि सद्दाम हुसैन के पकड़े जाने के बाद छापामार हमलों में कमी आएगी। लेकिन हो उल्टा रहा है। हर दिन इराकियों का प्रतिरोध संघर्ष संगठित और व्यापक होता जा रहा है। असली लड़ाई तो अब शुरू हुई है और अमेरिका को भी इस बात का अहसास होने लगा है।

पिछला पूरा वर्ष अमेरिकी और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के मिथ्या प्रचारों, झूठे दावों और उनके बेशर्म भण्डाफोड़ों से भरा रहा। जिस झूठ को वजह बताकर अमेरिकी सत्ताधारियों ने इराक पर हमला किया था वह बेनकाब हो चुका है। इराक में कहीं भी व्यापक जनसंहार के हथियार नहीं मिले। साथ ही अमेरिका ने यह आरोप भी लगाया था कि वर्ल्ड ट्रेड सेण्टर पर हमले के पीछे सद्दाम का हाथ है और बिन लादेन के साथ उसके सम्बन्ध हैं। यह भी झूठ साबित हो चुका है। इन दोनों झूठों के पर्दाफाश के बाद बुश प्रशासन और ब्रिटिश सत्ताधारियों को भी मानना पड़ा कि यह दावे के साथ नहीं कहा जा सकता कि इराक के पास जनसंहार के हथियार थे। इस स्वीकारोक्ति के बाद बुश-ब्लेयर गिरोह के मुँह पर कालिख फत गयी है। इससे इन साम्राज्यवादियों की इनके अपने देशों में भी काफी भद्द पिटी है। इसके अलावा शासक वर्गों के बीच की दरारें और गहरी हो गयी हैं। अमेरिकी सत्ताधारी गिरोह के ही कई तत्व यह स्वीकारने लगे हैं कि बुश ने सत्तासीन होते ही इराक पर हमला करके वहाँ की अकूत तेल सम्पदा; (विश्व के कुल तेल का 16 फीसदी) पर कब्जा जमाने के मंसूबे बांध लिए थे।

अब यह एक 'ओपेन सीक्रेट' है कि व्यापक जनसंहार के हथियार, और सद्दाम के बिन लादेन से सम्बन्ध की बात बहाने मात्र थे। इसके बारे में तो पश्चिमी मीडिया तक में लेख आ चुके हैं कि यह और कुछ नहीं सिर्फ तेल की राजनीति थी जिसकी वजह से यह सारे झूठ रचे गये और इराक की जनता पर यह विनाशकारी युद्ध थोपा गया। कहने की जरूरत नहीं है कि ओसामा बिन लादेन और अल कायदा तथा तालिबान के नाम पर अफगानिस्तान पर किये गये अमेरिकी हमले की अन्तर्कथा भी कुछ ऐसी ही थी। अमेरिका का मकसद था कैस्पियन सागर के बेसिन के विशाल तेल भण्डार तक अपनी पहुँच सुनिश्चित करना। पश्चिम एशिया के बाद, दुनिया का सबसे बड़ा तेल भण्डार यही है, जिसे दुनिया भर के साम्राज्यवादी ललचायी निगाहों से देख रहे हैं।

तेल पर कब्ज़े के अलावा एक अन्य महत्वपूर्ण वजह भी थी। यह है–अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतियोगिता। इस उपादान को थोड़े विस्तार से समझना जरूरी है।

इराक युद्ध एक ओर तो वहाँ की जनता के खिलाफ अमेरिकी साम्राज्यवादियों का नृशंस युद्ध था, साथ ही वह ब्रिटेन-अमेरिका धुरी का फ्राँस-जर्मन धुरी के खिलाफ भी एक परोक्ष युद्ध था। विश्व पूँजीवाद का अमेरिका निर्विवाद नेता है। आने वाले वर्षों में यह स्थिति जल्दी बदलने भी नहीं वाली है। लेकिन यह भी सच है कि पिछले दो दशकों के दौरान मार्क और येन की ताकत डालर के वर्चस्व को चुनौती दे रही थी और आज यूरो और येन दे रहे हैं। यूरो और डालर के बीच मुद्रा-युद्ध शुरू हो चुका है जो लगातार तीखा होता जा रहा है।

इराक अमेरिका का कोपभाजन इसलिए भी बना कि इराक ने नवम्बर 2000 में तेल व्यापार के लिए यूरो को मुद्रा के रूप में अपना लिया, बजाय डालर के। अकेले इराक के इस निर्णय के चलते डालर के मुकाबले यूरो की कीमत जो पहले 82 सेण्ट थी बढ़कर 1.5 डालर हो गयी और यूरो की चुनौती और तगड़ी हो गयी। अमेरिका डालर का वर्चस्व गम्भीर आर्थिक संकट के बावजूद इसलिए कायम रख पा रहा है क्योंकि विश्व के सबसे बड़े व्यापार यानी तेल व्यापार की मुख्य मुद्रा डालर है और उसे अन्य देशों की सेवाओं के बदले में बस डालर छापकर देने होते हैं। यानी, अपने आयातों के लिए अमेरिका को वस्तुतः कुछ नहीं देना पड़ता। और तेल के लिए सारे देशों को अमेरिका से मनमानी शर्तों पर डालर खरीदने पड़ते हैं। इराक के इस कदम के बाद अमेरिका इस स्थिति में आ गया कि यदि कल ईरान और वेनेजुएला भी ऐसा कर दें तो अमेरिकी वर्चस्व के पराभव की प्रक्रिया निर्णायक तौर पर और तीव्र गति से शुरू हो जायेगी। यह होना अमेरिकी शासकों के लिए एक भयावह दुःस्वप्न जैसा था और इसलिए इराक को उसकी "गुस्ताखी" के लिए कोई बहाना ढूँढकर सजा देना ज़रूरी था। यानी इराक का तेल हथियाने के अलावा प्रतिस्पर्द्धी साम्राज्यवादी ब्लॉक के खिलाफ अपने वर्चस्व को कायम रखना भी यह युद्ध छेड़ने के पीछे अमेरिका की एक अहम वजह थी।

कहने की ज़रूरत नहीं है कि साम्राज्यवाद के निर्विवाद नेता की अपनी हैसियत को बनाए रखने में वह फ़िलहाल कामयाब हुआ है। अलग-अलग धरातलों पर विभिन्न यूरोपीय शक्तियाँ विरोध के बावजूद अन्त में डालर की ताकत के आगे झुकीं।

अब अमेरिका द्वारा इराक पर हमले की वजह के सारे झूठ बिल्कुल खुलकर सामने आ गये हैं और अंशों में सत्ताधारी गिरोह के कई तत्व भी इसे स्वीकार रहे हैं। इराक में प्रतिरोध युद्ध लगातार तेज होता जा रहा है और अमेरिका में उतरने वाले ताबूतों की संख्या बढ़ती जा रही है अमेरिका की इराक में प्राथमिकताएँ कुछ यूँ थीं। **सबसे पहले** तो अमेरिका इराक में तेल निकालकर बेचना और पुनर्निर्माण के काम में अपने देश की कम्पनियों का मुनाफा सुनिश्चित करना चाहता था। पुनर्निर्माण के लिए अमेरिकी कम्पनियाँ दौड़ पड़ीं और यह दौड़ इतनी नंगी थी कि पश्चिमी मीडिया के ढाँकते-तोपते भी दिखलाई पड़ने लगी।

लेकिन इस मंसूबे में अमेरिकी सफल नहीं हो पा रहे हैं। वजह है छापामार युद्ध का दिन-पर-दिन शक्तिशाली और संगठित होते जाना। अमेरिकी बन्दर की मुट्ठी इराकी तेल के मटके में फँस गयी है। बेहाल अमेरिकी सैनिकों पर हमले बढ़ते जा रहे हैं। यह टिप्पणी लिखे जाने के समय अमेरिकी सैनिकों पर रोज होने वाले हमलों की औसत संख्या 35 है। यह बढ़ती जाएगी। यह बात दिन के उजाले की तरह साफ है। दूसरी गौर करने वाली बात यह है कि पहले इराकी छापामार योद्धा घर में बनाए गए बमों और छोटे हथियारों का इस्तेमाल कर रहे थे और अब वे छोटी मिसाइलों, राकेटों, विस्फोटकों से भरी गाड़ियों और ग्रेनेडों का इस्तेमाल कर रहे हैं। यह साफ तौर पर दिखलाता है, कि इराकी प्रतिरोध युद्ध आने वाले समय में उत्तरोत्तर मजबूत होता जाएगा।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह प्रतिरोध युद्ध "सद्दाम के बचे-खुचे समर्थकों" द्वारा नहीं चलाया जा रहा, जैसा कि अमेरिकी सैनिक अधिकारी और पॉल ब्रेमर दावा कर रहे हैं। स्वतःस्फूर्त जनसंघर्षों की एक शानदार अरब परम्परा रही है। इराकी जनता इसी गौरवशाली परम्परा को आगे बढ़ा रही है। इस असलियत को नकारना अब साम्राज्यवादी मीडिया के लिए भी मुश्किल होता जा रहा है। गौरतलब है कि एसोसिएटेड प्रेस जैसी अमेरिकी समाचार एजेंसियाँ भी इराकी छापामारों को आतंकवादी कहने की बजाय प्रतिरोध योद्धा कह रही हैं।

अमेरिका का **दूसरा सबसे अहम मंसूबा** था इराक में एक कठपुतली सरकार का गठन। वह सोच रहा था कि शिया बहुसंख्या सद्दाम के शासन के खिलाफ अमेरिकी साम्राज्यवाद का साथ देगी। लेकिन शियाओं और उनके राजनीतिक और धार्मिक नेताओं ने निष्पक्ष चुनावों और पूर्ण इराकी सरकार के गठन की माँग करके अमेरिकी आशाओं पर कुठाराघात कर दिया है। कुर्दों को सद्दाम हुसैन के बर्बर दमन का सामना करना पड़ा था, इसलिए अमेरिकी साम्राज्यवादियों को उनसे भी काफी उम्मीद थी। लेकिन कुर्द-बहुल इलाके के सबसे बड़े शहर मोसुल में अमेरिकी सेनाओं पर बढ़ते हमलों ने यह साफ कर दिया कि कुर्द भी अमेरिका की गोद में बैठने का विकल्प कभी नहीं चुनेंगे। कुर्दों ने सद्दाम हुसैन के दमन का स्वागत किया था लेकिन इराक को अमेरिका का खिलौना बनाने के वे हरगिज खिलाफ थे।

निस्संदेह इराक में कई शक्तियाँ यह प्रतिरोध युद्ध चला रहीं हैं। इनमें देशभक्त इराकी जनता है, सद्दाम समर्थक हैं, इस्लामी कट्टरपंथी ताकतें हैं, और वे वामपंथी शक्तियाँ हैं जिन्हें सद्दाम हुसैन ने कभी क्रूरता से कुचला था। लेकिन अमेरिकी हमलावरों को इराक की सरजमीं से खदेड़ने पर सभी एकजुट हैं ताकि अपने भविष्य का फैसला इराकी खुद कर सकें।

ऐसी सूरत में अमेरिका के शासक तबकों में इस विकल्प पर भी विचार चल रहा है कि शिया-सुन्नी-कुर्द तनावों को हवा देकर इराक का **बाल्कनीकरण** करके उसे तीन हिस्सों में बाँट दिया जाए। अगर अमेरिका ऐसा कोई कदम उठाता है तो अरब विश्व में उसे तीखे विरोध का सामना करना पड़ेगा। और पूरा अरब जगत तब साम्राज्यवाद-विरोधी उग्र जन-विस्फोटों का मंच बन जायेगा।

वैसे तो अमेरिकी परेशानी का मुख्य कारण इराक में तेजी से संगठित होता जनप्रतिरोध युद्ध है, लेकिन युद्ध-जनित आर्थिक संकट भी उसे कोई कम तनाव नहीं दे रहे हैं। एक तरफ तो इराक का तेल बेचने के मंसूबे पर मायूसी हाथ लगी है तो दूसरी तरफ अमेरिकी बजट का घाटा 500 अरब डालर की अभूतपूर्व ऊँचाइयों पर जा पहुँचा है और बुश प्रशासन की चिन्ता फिलहाल तो यह है कि इस वर्ष चुनावों में उसे इसका खामियाजा भुगतना पड़ सकता है। अमेरिकी जनता का एक हिस्सा तो पहले से ही युद्ध-विरोधी था, दूसरा विशाल हिस्सा जिसे अमेरिकी अन्धराष्ट्रवाद की तगड़ी खुराक देकर युद्ध का पक्षधर बनाया गया था, आर्थिक संकट और उससे बढ़ती बेरोजगारी (बुश के काल में 23 लाख अमेरिकी बेरोजगार हुए हैं) के कारण वह भी धीरे-धीरे युद्ध-विरोधी होता जा रहा है। लेकिन उसके विरोधी होने का सबसे बड़ा कारण अमेरिकी सैनिकों की इराक में बढ़ती मौतें हैं। यह प्रक्रिया जारी रही तो वियतनाम युद्ध के बाद वाली स्थिति पैदा होने की सम्भावना सच हो जाएगी। जिस तरह वियतनाम युद्ध के बाद अमेरिका में एक के बाद एक युद्ध-विरोधी आंदोलन, मानवाधिकार आंदोलन, छात्र आंदोलन, स्त्री आंदोलन, और अश्वेत आंदोलन शुरू हो गये थे, वैसे ही इराक युद्ध के बाद भी हो सकता है। वियतनाम युद्ध का दौर तो अमेरिकी अर्थव्यवस्था के वैभव का दौर था इसलिए अमेरिका यह सब जैसे-तैसे झेल पाया। लेकिन अब ऐसा होने की सम्भावना मंदी की मार झेल रहे अमेरिका के शासक वर्ग के लिए एक बेहद आतंककारी सम्भावना है।

सद्दाम हुसैन का पतन एक बुर्जुआ शासक का पतन था। हालात कुछ ऐसे बन गये थे कि उसे अमेरिकी साम्राज्यवाद ने अपने इस्तेमाल के बाद दूध में पड़ी मक्खी की तरह फेंकना चाहा। इस पर उसे अमेरिका के खिलाफ खड़ा होना पड़ा और वह साम्राज्यवाद-विरोधी जनयुद्ध का नायक-सा प्रतीत होने लगा। लेकिन अगर उसके इतिहास को देखें तो पता चलता है कि ऐसा नहीं था। यह सही है कि सद्दाम हुसैन उसी युवा पीढ़ी का था जो नासिर के प्रभाव में सयानी हुई थी और जुझारू अरब राष्ट्रवाद की भावना से ओतप्रोत थी, लेकिन यह भी सच है कि सद्दाम ने गुट बनाकर साज़िश के

बूते लोकप्रिय सरकार का तख्तापलट कर दिया और सत्तासीन होने के बाद कम्युनिस्टों, शियाओं, कुर्दों और अपने तमाम विरोधियों को क्रूर दमन का निशाना बनाया। इराक की कम्युनिस्ट पार्टी अरब देशों की सबसे शक्तिशाली कम्युनिस्ट पार्टियों में से एक थी। ख्रुश्चेव के नकली समाजवाद के प्रभाव में इसका नेतृत्व कतारों की जुझारू चेतना को कमजोर बनाने का काम कर ही रहा था कि सद्दाम का कहर बरपा हो गया। कुर्दों के दमन का इतिहास जाना-पहचाना है। शियाओं के भी एक हिस्से को दमन का सामना करना पड़ा।

खाड़ी युद्ध की परिस्थितियों को याद करें। वहाँ काफी जटिलताएँ थीं। सद्दाम हुसैन को खाड़ी युद्ध के एक विशेष दौर में अमेरिकी साम्राज्यवाद ने इस्तेमाल किया और वे इस्तेमाल हुए भी–अपनी आधिपत्यवादी महत्वाकांक्षाओं के चलते। सद्दाम हुसैन की स्थिति आम तौर पर तीसरी दुनिया के उन सभी देशों के बुर्जुआ शासक वर्ग पर लागू होती है जो उपनिवेशवाद की समाप्ति के बाद अपने-अपने देशों में सत्तारूढ़ हुए। अरब देशों के सत्ताधारियों के दोमुँहेपन एवं ऐतिहासिक विश्वासघात और उनकी सीमाओं को हाल में हुआ लीबिया के शासक मुहम्मद कजाफी का घुटनाटेकू रवैया भी उजागर करता है।

पूरे अरब में अब जिस नई क्रान्तिकारी लहर के बीज पक रहे हैं वह राष्ट्रवाद के झण्डे तले और बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में फलीभूत नहीं हो सकती। फलस्तीन और इराक की घटनाएँ यही दिखलाती हैं। अब यह लड़ाई नए सिरे से साम्राज्यवाद-विरोधी पूँजीवाद-विरोधी क्रान्ति के झण्डे के नीचे होगी। इस लड़ाई में व्यापक मेहनतकश जनता के साथ बुर्जुआ वर्ग का कोई हिस्सा सहयोगी बनने की क्षमता ऐतिहासिक तौर पर खो चुका है। सच पूछें तो अरब देशों के जनसंघर्षों की अभी यही समस्या है। वहां जनता के हरावल दस्ते की कोई नई पीढ़ी यदि है भी तो भ्रूणावस्था में है। बहरहाल, जनता संघर्षों के दौरान सीखती है और संघर्षों का दहनपात्र ही क्रान्तिकारी हरावलों को भी तपाकर मजबूत बनाता है। यही प्रक्रिया आज अरब देशों में चल रही है।

(पृष्ठ 2 का शेष)

पाठक मंच

इतिहास का सच

तुम्हारे हाथ इतिहास बनाते हैं या आदमी
यह बात उसकी समझ के बाहर है
जो सिर्फ अपने लिए जीवित होता है
समाज और मनुष्य की अवधारणा
जिसके लिए बेमानी होती है
यह सच है कि उसने जब भी उकेरने की
कोशिश की है
अपनी कविता में इतिहास को
हर बार यही पाया है उसने कि
इतिहास उसक विरुद्ध होता जा रहा है
फनः वह इतिहास को दुहराने की
गलती भी करना चाहता है
लेकिन इतिहास तो इतिहास
पूरा विश्व उसके खिलाफ जाने लगता है
लिहाजा वह इतिहास के बाहर
चला जाता है अन्ततः
उसके पूरे वजूद के साथ

–रामनिहाल गुंजन
नया शीतल टोला, आरा (बिहार)

आह्वान का जनवरी-मार्च, 2003 अंक पढ़ा। जिसमें बेचैन करते सवाल (एकदलीय छात्र के, आत्महत्या) को पढ़कर अत्यन्त दुख हुआ, और भारतीय सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था एवं विश्व में तथाकथित रूप से सर्वोच्च कहे जाने जाने वाले लोकतांत्रिक देश का नग्न रूप प्रकट हुआ है। इसमें मुख्यतः एक दलित छात्र की हत्या नहीं एक ग़रीब छात्रा की हत्या हुई है क्योंकि अगर यही छात्र धनाढ्य परिवार का होता तो न तो उसे इतना अपमानित होना पड़ता और न ही वह आत्महत्या करता। ऐसे प्रकरण देश की आर्थिक वैषम्यता को चित्रित करते हैं। वर्तमान देश में व्याप्त कुलीनवादी संस्कृति, जातिवाद, सामाजिक आर्थिक विषमता एवं अमानवीय कृत्यों को रोकने के लिए आह्वान ने जो आवाज दी है, अति प्रशंसनीय है। देश में सामाजिक एवं आर्थिक समानता आने पर ही इस तरह के प्रकरण नहीं होंगे। और इसके लिए भगतसिंह की राह पर चलना ही पड़ेगा। मैं आह्वान के निरन्तर सफलता की कामना करता हूँ।

–बी.एल.वर्मा
जयपुर

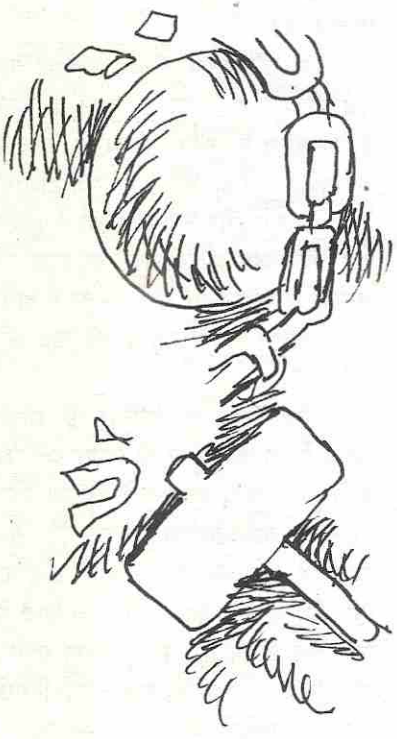

(पृष्ठ 28 का शेष)

प्रतिबद्ध अध्येता हमज़ा अलवी...

कट्टरपंथ, अमेरिका-पाक सैन्य सहयोग, पाकिस्तान की औरतों की स्थिति, साम्राज्यवाद, संस्कृति जैसे विषयों पर काफी काम किया। हमज़ा अलवी से असहमति, और गम्भीर असहमति के बहुतेरे मुद्दे मौजूद हो सकते हैं, लेकिन इस बात को वामपंथी बौद्धिक दायरों में निर्विवाद माना जाता है कि वे "मुक्त चिन्तक" नहीं थे। उनके सुपरिभाषित सामाजिक सरोकार और स्पष्ट प्रतिबद्धताएँ थीं, जिनको लेकर उन्होंने कभी कोई समझौता नहीं किया। आज फैशनपरस्त प्रगतिशीलता और अकर्मक विमर्शों के घटाटोप में ऐसे प्रतिबद्ध बुद्धिजीवी अब बहुत कम पाए जाते हैं। खास तौर पर इसलिए, अलवी का निधन वैज्ञानिक सामाजिक चिन्तन के लिए एक अपूरणीय क्षति है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

स्मृति-शेष

पिछड़े समाजों के प्रतिबद्ध अध्येता : हमज़ा अलवी

● अभिनव

2003 के अंतिम महीने बौद्धिक जगत के लिए अच्छे नहीं रहे। पहले 26 सितम्बर को एडवर्ड सईद का निधन हुआ और लगभग दो महीने बाद ही 1 दिसम्बर के दिन कराची में प्रसिद्ध पाकिस्तानी अर्थशास्त्री, सामाजिक वैज्ञानिक और राजनीतिक कार्यकर्ता हमज़ा अलवी का देहावसान हो गया। ताज्जुब की बात नहीं है कि उस हमज़ा अलवी की मौत की खबर को भारत के किसी बड़े राष्ट्रीय समाचार-पत्र में स्थान नहीं मिला जिसे उपनिवेशों और उत्तर-औपनिवेशिक समाजों-विशेषकर भारत और पाकिस्तान की उत्पादन-प्रणाली विषयक अपने शोधों से ही पश्चिमी अकादमिक जगत में प्रसिद्धि मिली। हमज़ा अलवी उन फैशनपरस्त बुद्धिजीवियों में नहीं थे जो तमाम नववामपंथी और भाँति-भाँति के "उत्तरविचारवादी" विमर्शों में उलझे रहते हैं। अलवी जीवन-पर्यन्त बेहद ज़मीनी समस्याओं, और गम्भीर व्यावहारिक प्रश्नों से जूझते रहे। शायद यही कारण था कि उनकी मौत की खबर की उतनी 'मार्केट-वैल्यू' नहीं थी।

प्रोफेसर हमज़ा अलवी के निधन के साथ ही हमारे बीच से एक ऐसी शख़्सियत चली गई जो एक ऐसे बुद्धिजीवी की मिसाल थी जो क़िताबी कीड़ा न बनकर ज़िन्दा सवालों से जूझा, और जो सिर्फ बौद्धिक प्रतिबद्धता का ही नहीं बल्कि राजनीतिक-सामाजिक सक्रियता का भी हामी था।

हमज़ा अलवी किसानी समाजों, औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक सामाजिक संरचनाओं और उत्पादन-प्रणाली पर हुई बहस में योगदान, औपनिवेशिक उत्पादन-प्रणाली के सिद्धान्त, और राज्य और संस्कृति, खिलाफ़त आन्दोलन, जैसे विषयों पर अपनी रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। वह उन बुद्धिजीवियों में से थे जो व्यावहारिक प्रश्नों पर सोचते हैं। उन्होंने कई विषयों पर काफी खुलकर, फरानी प्रस्थापनाओं से अलग हटकर सोचा, और कई विवादास्पद बातें भी कहीं, लेकिन किसी भी कोण से उन्हें आजकल के मुक्त चिंतकों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। वजह उनका ज़मीन से और जनता से जुड़ा होना था। अलवी उस पीढ़ी के बुद्धिजीवी थे जो राष्ट्रीय आन्दोलन और क्रान्तिकारी संघर्षों की ऊष्मा में पली-बढ़ी थी। उनकी दिमागी बनावट के निर्माण में राष्ट्रीय आन्दोलन की गर्मी की बहुत बड़ी भूमिका थी। इसलिए वह दुनिया के कुलीनतम संस्थानों का हिस्सा बने रहते हुए भी दिमाग़ी तौर पर कुलीन नहीं बने। व्यावहारिक ज्ञान को उन्होंने सबसे ज्यादा अहमियत दी। मिसाल के तौर पर जब उनकी दिलचस्पी किसानों और खेती के बारे में थी तो वह तंजानिया के किसानों के बीच रहे, खेती सीखी, पंजाब के किसानों के बीच में पंद्रह महीने बिताए। उनकी रचनाओं का गंभीर और जटिल अध्ययन भी क़िताबी होने की बजाय ज़मीन से जुड़ा होता है। यह मानसिक निर्मिति कैसे तैयार हुई, यह जानने के लिए उनकी जीवन-यात्रा की एक झलकी लेना अच्छा होगा।

हमज़ा अलवी का जन्म 10 अप्रैल, 1921 को कराची में हुआ था। उनके शुरुआती चरित्र-निर्माण में उनके दादा जी की काफी महत्वपूर्ण भूमिका थी, जिन्हें 'सिंध का सर सैयद अहमद खाँ' भी कहा जाता था। वह एक व्यवसायी और समर्पित शिक्षाविद थे। वह ख़िलाफ़त आन्दोलन से जुड़े रहे थे। शहरी गरीबों की शिक्षा से वह काफी सरोकार रखते थे और चाहते थे कि उनका पौत्र उनके जीवन को नज़दीकी से जाने। इसके लिए उन्होंने हमज़ा अलवी को म्युनिस्पैलिटी प्राइमरी स्कूल में दाखिला दिलाया जहाँ आम घरों के बच्चे पढ़ते थे। उसके बाद कराची अकादमी हाई स्कूल में उन्हें बी स्ट्रीम में दाखिला दिलाया गया जिसमें गरीब बच्चे पढ़ते थे। इसके प्रभाव के बारे में अलवी ने अपनी जीवनी में लिखा है : 'मेरे अन्दर एक सामाजिक विवेक पैदा हुआ और मैं बिना समाजवाद का कभी नाम सुने ही समाजवादी बन गया।'

इस दिलचस्प स्कूली शिक्षा के बाद उन्होंने अपनी आगे की शिक्षा कराची के डी. जे. कॉलेज, बी.ए. पूना के वाडिया कॉलेज, एम.ए. अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से पूरा किया। फिर पूना के गोखले शोध संस्थान से उन्होंने प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा. डी. आर. गाडगिल के मार्गदर्शन में शोध किया। उन्हीं के सुझाव और प्रोत्साहन पर 1945 में उन्होंने एक शोध अधिकारी के रूप में बम्बई में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के केन्द्रीय कार्यालय में नौकरी शुरू कर दी। यह उनका पहला पेशा था। जब विभाजन की घोषणा हुई तो रिजर्व बैंक के तत्कालीन गवर्नर देशमुख ने उन्हें स्टेट बैंक ऑफ पाकिस्तान में जाने का सुझाव दिया क्योंकि वहाँ प्रशिक्षित लोगों की कमी थी जिनके बिना स्टेट बैंक ऑफ़ पाकिस्तान नहीं चल सकता था। प्रशिक्षण के लिए अलवी को विनिमय-नियंत्रण विभाग में भेजा गया। और फिर विभाजन के बाद वह कराची वापस आ गये। स्टेट बैंक के विनिमय-नियंत्रण विभाग में अपने प्रभावशाली काम की बदौलत वह बैंक में जल्दी ही काफी ऊँचे पद पर पहुँच गये। उन्हें 1952 में केंद्रीय बोर्ड के पाँच सचिवों में से एक का पद मिला जो गवर्नर और डिप्टी गवर्नर के बाद बैंक का तीसरा सर्वोच्च पद होता था। इसके पहले पूर्वी पाकिस्तान स्टेट बैंक का पूरा जिम्मा उनको सौंप दिया गया था जहाँ स्थितियाँ

काफी कठिन थीं। वहाँ जाने के कुछ समय बाद ही वहाँ के बड़े उद्योगपतियों से उनका तनाव शुरू हो गया। इसके बाद ही उनकी पदोन्नति करके उन्हें कराची वापस बुला लिया गया।

इस बीच कामों के बोझ से उनका स्वास्थ्य काफी गिर जाने के कारण उन्हें छुट्टी दी गई। वह अपनी पत्नी के साथ तंजानिया चले गये। अकादमिक जगत में जाने की उनकी चाहत अभी भी ज़िन्दा थी और किसानों और खेती में उनकी विशेष दिलचस्पी थी। वहाँ जाने के कुछ समय बाद ही उन्होंने स्टेट बैंक से इस्तीफा दे दिया और तंजानिया में ही खेती करने का इरादा बना लिया। जैसा कि उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है, इस फैसले के पीछे एक रोमांटिक पलायनवाद था। अलवी जब एक फार्म पर खेती सीखने के लिए नौकरी कर रहे थे तभी वह बीमार पड़ गये जिसके बाद वहाँ के अनाड़ी डॉक्टरों ने उनका एक गैरज़रूरी ऑपरेशन कर दिया। ऑपरेशन के घाव काफी समय तक ठीक न होने के बाद वह लंदन गये और कई हफ्तों तक यूनिवर्सिटी कॉलेज अस्पताल में उनका इलाज चला। इस दौरान वह 'रोमांटिक सपनों की दुनिया से हकीकत की दुनिया में वापस आ गए।' उन्होंने लंदन में रुक जाने का निर्णय लिया। लेकिन पाकिस्तान में जो कुछ हो रहा था उसको लेकर वह काफी विचलित थे। इसलिए अकादमिक जगत में जाने के अपने फैसले को कुछ समय के लिए टालते हुए वह राजनीतिक-सामाजिक गतिविधियों में सक्रिय हो गये।

यह उनके जीवन का दूसरा पड़ाव था। दस साल तक वह लंदन में सेमिनारों, भाषणों और लेखन के जरिए राजनीतिक रूप से सक्रिय रहे। शुरुआत में उन्होंने 'लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स' से 'पाकिस्तान में बैंकिंग' विषय पर शोध शुरू किया। लेकिन इस विषय से वह बुरी तरह से ऊबे हुए थे। वह लिखते हैं : 'खोखले अकादमिकवाद से मेरा मोहभंग हो चुका था।' पाकिस्तान में हो रही घटनाएँ उन्हें परेशान कर रही थीं। वह गहराई से समस्याओं को समझना और उनका समाधान प्रस्तुत करना चाहते थे। इन चीजों पर कोई काम भी नहीं कर रहा था। ऐसी सूरत में उन्होंने 1957 में एक त्रैमासिक पत्रिका *'पाकिस्तान टुडे'* निकालनी शुरू की। यह 1962 तक निकली। इसमें 'दि बर्डेन ऑफ यू.एस. एड' नामक बहुचर्चित लेख समेत अनेक महत्वपूर्ण लेख आए। यह पत्रिका गुप्त रूप से पूरे पाकिस्तान में प्रसारित हुई।

हमज़ा अलवी और उनकी पत्नी ने अपने मित्र एक बांग्लादेशी दम्पति के साथ 1955 से 1966 तक प्रवासी पाकिस्तानी छात्रों और मजदूरों के बीच काफी सफलतापूर्वक काम किया। उन्होंने अलग-अलग स्तरों पर कई संगठनों का भी निर्माण किया, जैसे, *'पाकिस्तान यूथ लीग', 'पाकिस्तानी सोशलिस्ट सोसायटी', 'कमिटी फॉर दि रेस्टोरेशन ऑफ डेमोक्रेसी इन पाकिस्तान', 'कैम्पेन अगेंस्ट रेशियल डिस्क्रिमिनेशन (कार्ड)'*, आदि। इन संगठनों की बैठकों में **एरिक हॉब्सबॉम, स्टुअर्ट हॉल, टोनी बेन** जैसे लोग आया करते थे।

सक्रियता के एक दशक के बाद हमजा अलवी ने यह महसूस किया कि इंग्लैण्ड में सामाजिक सक्रियताओं की कुछ सीमाएँ हैं। सक्रियता के दौर में हर कोने से मुसीबत में पड़े एशियाई मूल के लोगों के फोन आते रहते थे और कहीं भी उन्हें आराम नहीं मिलता था। इसी दौरान वह तमाम जरूरी सैद्धान्तिक सवालों पर सोच रहे थे और उन्हें लगने लगा कि यदि सक्रियता जारी रहेगी तो इन सवालों को हल करने का मौका उन्हें जीवन पर्यन्त नहीं मिलेगा। ऐसे हालात में मजबूरी में उन्होंने 1966 में सामाजिक सक्रियता छोड़कर अकादमिक प्रतिबद्धताओं को पूरा करने में वक्त लगाने का फैसला कर लिया। ससेक्स विश्वविद्यालय के 'इंस्टीट्यूट ऑफ डेवलपमेन्ट स्टडीज' में चले गये। इस विभाग में काम करते हुए ही उन्होंने पंद्रह महीने तक पंजाब के एक गाँव में शोध किया। इसके बाद उन्हें कनाडा के मिशिगन स्टेट विश्वविद्यालय की ओर से बुलावा आया लेकिन उनकी राजनीतिक गतिविधियों और सैद्धान्तिक आस्थाओं के चलते उन्हें कनाडा में आकर पढ़ाने की अनुमति नहीं मिली। हालाँकि बाद में यह प्रतिबंध हट गया, लेकिन अब कनाडा जाने में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं रह गयी थी। उन्होंने इस घटना की बाबत कहा था : 'कि इससे बहुप्रचारित 'पश्चिमी जनतंत्र' की पोल खुल गयी, मैकार्थी आज भी राज कर रहा है।'

वह कनाडा में प्रोफेसर बनने की बजाय इंग्लैण्ड के लीड्स विश्वविद्यालय में लेक्चरर बने। इसके पहले उन्हें एम्सटरडम विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद का आमंत्रण मिला। लेकिन चूँकि इंग्लैण्ड में उनके बहुतेरे मित्र थे, इसलिए उन्होंने यह प्रस्ताव ठुकरा दिया और लीड्स में एक छोटे पद पर रहना स्वीकार किया। लीड्स में पाँच साल गुजारने के बाद 1977 से 1988 तक वह मैनचेस्टर विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में रीडर रहे। लीड्स छोड़ने की मुख्य वजह यह थी कि उनके सबसे अच्छे मित्र राल्फ मिलिबैण्ड वहाँ से चले गये थे और विभाग का माहौल काफी बदल गया था। 1989 में वह कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में रॉबर्ट ब्रेनर के साथ रहे। 1994 तक वह ससेक्स विश्वविद्यालय में ऑनररी एसोसिएट फेलो थे। 1997 से वह कराची में रह रहे थे। और 1 दिसम्बर 2003 के दिन बयासी वर्ष से कुछ अधिक आयु में उनका निधन हो गया।

●

हमजा अलवी ने एक बेहद सक्रिय बौद्धिक जीवन जिया। वह उस किस्म के बुद्धिजीवी नहीं थे जिनका शोध वातानुकूलित कमरों से शुरू होता है और उन्हीं में खत्म भी हो जाता है। शायद यही वजह रही कि वह न तो कभी नववाम या किसी "उत्तरविचारवादी" विमर्श में फँसे, और न ही कभी यांत्रिक और रूढ़ किस्म के मार्क्सवादी बने।

अलवी ने तीसरी दुनिया के देशों, विशेषकर दक्षिण एशिया के देशों के औपनिवेशिक अतीत, उपनिवेशोत्तर काल के विकास के चरित्र, किसानी समाजों की उत्पादन-प्रणाली की विशिष्टताओं का और भारत-पाकिस्तान के सांस्कृतिक-राजनीतिक इतिहास के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं का गहन अध्ययन किया। उन्होंने मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन और माओ के अध्ययन से विश्लेषण के उपकरणों को लिया, बजाय उनकी प्रस्थापनाओं

और निष्कर्षों को ज्यों का त्यों उठा लेने के।

समाज विकास की मूल आन्तरिक गति पर बल देने के बावजूद हमज़ा अलवी की यह मान्यता थी कि पश्चिम में सामन्तवाद के नाश और औद्योगिक पूँजीवाद के विकास उपनिवेशों की लूट और शोषण की अहम भूमिका थी। इसलिए, जिस प्रकार उपनिवेशों और उपनिवेशोत्तर समाजों की विकास-प्रक्रिया की चर्चा उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की भूमिका की चर्चा के बिना नहीं हो सकती, उसीप्रकार यूरोपीय समाजों में भी सामन्तवाद से पूँजीवाद में संक्रमण की परिघटना का अध्ययन औपनिवेशिक समाजों और वैश्विक परिप्रेक्ष्य से पृथक एक 'बन्द मॉडल' के रूप में नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से उन्होंने उन यूरोपीय मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों की आलोचना की जिन्होंने साठ के दशक में इस प्रश्न पर चली हुई बहस में भाग लेते हुए उपनिवेशों से यूरोपीय समाजों के सम्बन्ध तथा यूरोपीय समाजों में हुए परिवर्तनों पर उनके प्रभावों का उल्लेख तक नहीं किया था।

उपनिवेशवाद के दौर में, औपनिवेशिक समाजों (विशेषकर भारत के सन्दर्भ में) पूँजीवाद के तत्वों के प्रवेश और प्रभाव का विशेष अध्ययन करते हुए हमज़ा अलवी ने 'औपनिवेशिक पूँजीवाद' और औपनिवेशिक पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों की अपनी थीसिस विकसित की। पहले उनका मानना था कि इन पिछड़े समाजों में पूँजी के प्रवेश ने सामन्ती उत्पादन-सम्बन्धों को बदलकर एक नये और विशिष्ट प्रकार का पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्ध विकसित किया। बाद में अपनी स्थापनाओं में सुधार करते हुए उन्होंने यह विचार प्रस्तुत किया कि उपनिवेशों में पूँजीवादी विकास की गति तो प्रारम्भ हो चुकी थी, लेकिन, खास तौर पर, भूमि-सम्बन्धों का स्वरूप सामन्ती ही बना रहा था। औपनिवेशिक काल की समाप्ति के बाद, खासतौर पर भारत में, यहाँ के सापेक्षतः शक्तिशाली औद्योगिक पूँजीपति वर्ग ने, एक क्रमिक प्रक्रिया में, सामन्ती भूमि-सम्बन्धों को बदलकर उनका पूँजीवादीकरण कर दिया। पाकिस्तान में चूँकि औद्योगिक पूँजीपति वर्ग की शक्ति कम और आधार संकुचित था, इसलिए वहाँ पुराने भूस्वामी अभिजात सत्ता के भागीदार बने रहे और पूँजीवादी विकास की यह प्रक्रिया गति नहीं पकड़ सकी। हमज़ा अलवी तीसरी दुनिया के पिछड़े देशों में विकसित पूँजीवाद पर साम्राज्यवादी दबाव एवं प्रभाव को स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि इन देशों के पूँजीपति वर्ग का साम्राज्यवाद से अन्तरविरोध भी है, लेकिन यह उसके दबाव में ही रहने को बाध्य है तथा साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद कर पाने की क्रान्तिकारी सम्भावना से रिक्त है। हमज़ा अलवी 'डिपेन्डेंसी थियरी' को मानने वाले उन मार्क्सवादियों की आलोचना करते हैं जो तीसरी दुनिया के अल्पविकसित पूँजीवाद को पूरी तरह से साम्राज्यवाद पर निर्भर मानते हैं और इसप्रकार समाज-विकास की आन्तरिक गति की प्रधानता की अनदेखी करते हैं तथा साम्राज्यवादी शक्तियों और तीसरी दुनिया के देशों के पूँजीपति वर्ग के बीच के अन्तरविरोधों की या तो अनदेखी करते हैं, या फिर उसे साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति के किसी किस्म के एजेण्डा का भागीदार मान बैठते हैं।

भारतीय समाज और उत्पादन-प्रणाली पर सत्तर के दशक में चली प्रसिद्ध बहस में उन्होंने अस्सी के दशक में एक महत्वपूर्ण हस्तक्षेप किया। इसमें हिस्सा लेने वाले अन्य बुद्धिजीवियों में उत्सा पटनायक, आंद्रे गुंदर फ्रैंक, अशोक रुद्र, डेनियल व एलिस थॉर्नर, गेल ओमवेत, प्रधान हरिशंकर प्रसाद, जयरस बानाजी जैसे लोग थे। हमज़ा अलवी ने औपनिवेशिक पूँजीवादी सामाजिक संरचना के अपने पुराने सिद्धान्त को ही विस्तार देते हुए कहा कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भारत जैसे देशों की सामाजिक संरचना सामंतवादी या अर्द्धसामंती-अर्द्धऔपनिवेशिक नहीं है, और न ही यह यूरोपीय क्लासिकल पूँजीवाद जैसी है। यह एक विशिष्ट प्रकार की पूँजीवादी संरचना है जो विविध रूपों में उत्तरऔपनिवेशिक समाजों में पायी जाती है। अलवी के मतानुसार, औपनिवेशिक अतीत के कारण इन देशों का पूँजीवादी विकास धीमा और अल्पविकसित है। उन्होंने उन अर्थशास्त्रियों की आलोचना की जो भारतीय सच्चाइयों को यूरोपीय फ्रेम में किसी भी तरह से फ़िट करने की कोशिश कर रहे थे। उनका कहना था कि अगर भारतीय पूँजीवाद यूरोपीय पूँजीवाद जैसा नहीं है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि भारत सामंती या अर्द्धसामंती -अर्द्धऔपनिवेशिक है। यह मूलतः और मुख्यतः पूँजीवादी देश है, जिसकी अपनी विशिष्टताएँ हैं। हमजा अलवी की थीसिस की यह तार्किक निष्पत्ति है कि भारत आज किसी तरह की राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की मंजिल के बजाय, एक विशेष किस्म की समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में है, जिसका निशाना देशी पूँजीवाद के साथ साम्राज्यवाद भी है और जिसके एजेण्डे पर रहे-सहे प्राक्-पूँजीवादी अवशेषों के खात्मे का कार्यभार भी मौजूद है।

अलवी ने एक और थीसिस दी जिसे 'अलवी-वुल्फ़ थीसिस' भी कहा जाता है (क्योंकि चार साल बाद एरिक वुल्फ़ ने इसका अपने तथ्यों से समर्थन किया)। इस थीसिस के मुताबिक, भारत जैसे देशों में मँझोले किसान मज़दूरों के साथ खड़े होंगे, क्योंकि कृषि में पूँजीवादी विकास के सबसे ज्यादा शिकार यही हो रहे हैं। उत्पादन-प्रणाली या सामाजिक संरचनाओं का अध्ययन करते हुए हमज़ा अलवी ने मार्क्स और लेनिन की कुछ प्रस्थापनाओं से कुछ ऐसी असहमतियाँ प्रकट कीं या उनकी कुछ ऐसी व्याख्याएँ दीं जो आज भी काफी विवादास्पद मानी जाती हैं। लेकिन इसके बावजूद तीसरी दुनिया के देशों के सामाजिकार्थिक अध्ययन-विशेषकर भूमि सम्बन्धों के अध्ययन में उनके योगदान की महत्ता निर्विवाद मानी जाती है। मुख्य बात यह है कि हमज़ा अलवी की विश्लेषण-पद्धति वैज्ञानिक है। वे फार्मूलों से प्रस्थान नहीं करते थे बल्कि ठोस वास्तविकताओं के अध्ययन से निष्कर्ष निकालने पर जोर देते थे।

उन्होंने तीसरी दुनिया के उन कम्युनिस्टों की भी आलोचना की जो अपने देश के विश्लेषण के लिये भी रूस या चीन की पार्टियों की तरफ देखते थे और रूसी और चीनी क्रान्ति के मॉडलों का अंधानुकरण करते थे। उन्होंने तीसरी दुनिया के देशों की विशिष्टताओं की ओर ध्यान खींचा और नये सिरे से इन समाजों की वर्ग-संरचना और उत्पादन-प्रणाली के विश्लेषण की जरूरत पर बल दिया।

इन गंभीर आर्थिक-सामाजिक प्रश्नों के अतिरिक्त उन्होंने पाकिस्तान में धार्मिक

(शेष पृष्ठ 26 पर)

भाईजी, वामपंथ और राष्ट्रहित का पाला : एक प्रातःकालीन संवाद

फटक चंद गिरधारी

मुहल्ले के भाई जी से अपन का प्रेमभाव बना रहता है। सुबह-सुबह शाखा से लौटते हुए अक्सर आ जाते हैं। अदरक-तुलसी-गुड़ की चाय बनवाकर पीते हैं, अखबार पढ़ते हैं, कुछ गपशप करते हैं, फिर अपने डेरे पर जाते हैं।

अभी उस दिन बोले, "गिरधारी, ये जो वामपंथी हैं न! ये अन्दर से खोखले हो चुके हैं। इनकी नैतिक पराजय हो चुकी है। इनका दोहरा व्यवहार और कमज़ोर चरित्र हमारी विजय नहीं तो भला और क्या है?"

"मैं आपका मतलब नहीं समझा। थोड़ा और साफ कीजिए।"

"अब देखो, नामवर सिंह तो मार्क्सवादी विद्वानों के शीर्ष पुरुष हैं न! तुम्हे याद हो, न याद हो, चार साल पहले विश्व पुस्तक मेले में उन्होंने भाजपा से जुड़ी उसी लेखिका की पुस्तक का विमोचन किया जिसकी पुस्तक पिछले साल जब प्रेमचन्द की पुस्तक को हटाकर पाठ्यक्रम में रखी गयी थी, तो वामपंथियों ने आसमान सिर पर उठा लिया था। उस महिला की पुस्तक का विमोचन करने पर जब सवाल उठे तो नामवर सिंह ने यह पोली और बोदी-सी सफाई दी थी कि 'दरअसल वे हमारी पड़ोसी हैं और वैसे भी भाजपा में उनकी कोई खास हैसियत नहीं है।' अब देखो। फर्क क्या है! तुम आर.एस.एस. के किसी भी बौद्धिक से किसी वामपंथी की पुस्तक का विमोचन नहीं करवा सकते। वह अपनी निष्ठा के विरुद्ध नहीं जायेगा। नामवर विद्यानिवास जी का चरण-स्पर्श कर सकते हैं। पर विद्यानिवास जी नामवर से कभी हाथ नहीं मिला सकते। त्रिलोचन ने आख़िर भाजपा के मंत्री से पुरस्कार लिया था या नहीं? क्या कमी है उन्हें इस समय? रोटी भी नसीब है और यश भी। पर निष्ठा कमजोर हो गई है इन जड़, नास्तिक भौतिकवादियों की!"

थोड़ी देर रुककर भाई जी बोले, "हो सकता है, त्रिलोचन शास्त्री वद्धावस्था में आकर इहलोक-परलोक की सोचने लगे हों। वेदों और संस्कृति के प्रकाण्ड अध्येता रहे हैं। विचार बदलते भी हैं। त्रिलोचनजी आजकल प्रायः बहुत अच्छी बात कहते हैं। भारतीय इतिहास के गौरव के बारे में डा. रामविलास शर्मा ने भी अत्यंत उपयोगी बातें कही हैं। थोड़ा-बहुत देखता रहा हूँ। वे देशभक्त वामपंथी हैं। मैं तो उन्हें वामपंथी मानता ही नहीं। वे एक देशभक्त विद्वान हैं", थोड़ी देर रुककर भाई जी ने पूछा, "क्या शर्मा जी पूजा करते थे?"

"पता नहीं। यह मैं कैसे जानूँगा?"

"जानना चाहिए। जानना चाहिए।" भाईजी हँसकर बोले।

"देखो ये भारतीय वामपंथी संसद में बैठे-बैठे पहले ही जंग खा चुके हैं। सोवियत संघ के पतन के पहले ही इनका पतन हो चुका था। सी.पी.आई. वाले तो आपातकाल में इंदिरा गाँधी को समर्थन के समय ही खत्म हो चुके थे। सी.पी.एम. वालों को भी सत्ता का स्वाद लग चुका है। इनके बुद्धिजीवी विश्वविद्यालयों के महन्त बन चुके हैं। ये अखबारों में बयान देने और दिल्ली में विरोध-प्रदर्शन से आगे कुछ नहीं कर सकते। ये संघ की संघर्षशीलता का मुकाबला नहीं कर सकते।" भाईजी लगभग ताल ठोंकने की मुद्रा में आ गये।

"वैसे मैंने सुना है कि आपातकाल में माफीनामा तो संघ के कुछ नेताओं ने भी लिखा था।"

"झूठ, सफेद झूठ!" भाईजी चीखे।

"और संघ इस आरोप का उत्तर क्यों नहीं देता कि राष्ट्रीय आंदोलन में उसकी कोई भूमिका नहीं थी..."

"क्या तुम वामपंथियों की लिखी इतिहास की पुस्तकें पढ़ने लगे हो?" भाईजी ने शंका से मुझे देखा।

"वही ज्यादातर मान्य और स्थापित हैं!"

"यही तो राष्ट्र-विरोधी साज़िश है।"

मैंने बात बदलते हुए कहा, "ये विश्वविद्यालयों के वामपंथी विद्वान और वामपंथी नेतृत्व के लोग भले ही सुविधाभोगी हो गये हों, अभी भी मज़दूरों-किसानों में निष्ठा और ईमानदारी से लगे हुए वामपंथी कार्यकर्ता हैं। सफेदपोश मज़दूरों में बी.एम.एस. जरूर बढ़ा है और सीटू, एटक, आदि लगातार कमज़ोर हुए हैं अपनी सिद्धान्तहीनता के चलते। पर सरकारी नीतियाँ जिस तरह मज़दूरों-किसानों पर प्रभाव डाल रहीं हैं, उससे मुझे तो लगता है कि उनमें वामपंथ के पुनरोदय की नई ज़मीन तैयार हो रही है। सिर्फ भारतीय संस्कृति की रक्षा के नारे से आप आबादी के उस हिस्से को साथ नहीं ले सकते। "स्वदेशी" के नारे को भी वे लोग धीरे-धीरे चुनावी हथकण्डा समझने लगे हैं, जैसे कि मन्दिर के सवाल को.... जहाँ तक वामपंथी बुद्धिजीवियों की बात है, ऐसा नहीं कि सब अवसरवादी हो चुके हों...."

"अच्छा! तुम तो कुछ उग्र वामपंथी जैसी बातें कर रहे हो?" भाईजी बात काटते हुए बोले, "तुम भी जड़ भौतिकवादी होते जा रहे हो। पर हम तुम्हें उधर नहीं जाने देंगे। तुम्हें राष्ट्रहित के पाले में ही लायेंगे हम!" भाईजी उठने लगे।

राष्ट्रहित का पाला किधर है मैं देखने लगा।

●

भारतीय संस्कृति के गौरव की पुनर्स्थापना-विषयक कुछ स्फुट विचार

फटक चंद गिरधारी

मुहल्ले के भाई जी चिरकुमार हैं। अपना कोई परिवार नहीं। आजीवन संघ सेवा का व्रत! पिछले माह नागपुर गये थे तो लौटते हुए भोपाल में अपने अनुज के घर रुके। इरादा हफ्ते-दस दिन विश्राम का था, पर अपसंस्कृति के घटाटोप से घबराकर दो दिन बाद ही चल दिये। जवान भतीजियों को स्किनटाइट पैण्ट और बनियान जैसी स्पोर्ट शर्ट पहनकर कालेज जाते देख उनकी आँखें फटी की फटी रह गयी। लज्जा-मर्यादा-परम्परा, सबकुछ ताक पर। भाई-बहू को समझाया तो उन्होंने ज़माने की हवा और बच्चों के बड़े होने की बात करके लाचारी जताई। भतीजियों को समझाने की कोशिश की तो उन्होंने मुँह बिचका दिया।

भाई जी की व्यथा सुनकर मुझे याद आया कि गोविन्दाचार्य जी ने (उनका नाम याद है न!) ये सद्विचार प्रकट किये थे कि विदेशी संस्कृति और प्रभाव अपसंस्कृति की रोकथाम के लिए एक सांस्कृतिक लोकपाल नियुक्त किया जाना चाहिए।

मैं कल्पना में एक संस्कृतिक लोकपाल में फतवों और दण्डों से "गौरवशाली" भारतीय संस्कृति को बहाल होते देख रहा हूँ।

सांस्कृतिक लोकपाल मुहल्ले और गाँवों के स्तर निगरानी दस्ते (संस्कृति - पुलिस?) बनायेगा जो कहीं भी, सड़क पर, कैम्पस में, किसी युवक-युवती को साथ देखेंगे तो पीट सकते हैं। स्त्री-पुरुष मैत्री संज्ञेय अपराध होगा। सड़क पर पति-पत्नी या भाई-बहन को भी मर्यादा में रहना होगा। स्त्रियों को स्पष्ट चेतावनी दे दी जायेगी कि वे भरसक घरों में ही रहें और बेहद मजबूरी में ही बाहर निकलें। विधवाएँ सामाजिक धार्मिक शुभ मुहूर्तों पर अनुपस्थित रहेंगी। वैसे पति के साथ सती हो जाना आदर्श विकल्प होगा! वगैरह-वगैरह...

लेकिन प्राचीन भारतीय संस्कृति की स्थापना की बात से, अपने अल्प इतिहास-ज्ञान के आधार पर, मेरे मन में प्रायः कुछ शंकाएँ भी उठती हैं। बौद्ध धर्म के पूर्व, हिन्दू तो गोमांस भी खाते थे। खजुराहो और कामसूत्र का क्या होगा? नगर-वधू प्रथा का क्या होगा?... अनर्थ! घोर अनर्थ! मैं उपनिवेशवादियों, नेहरूवादियों और वामपंथियों के पढ़ाये झूठे इतिहास की घुट्टी पीकर मतिभ्रष्ट हो गया हूँ। अभी सांस्कृतिक लोकपाल और उसके निगरानी दस्ते होते तो मजा चखा देते! निपट लेते!

पर अभी वे नहीं है! फिलहाल पश्चिमी संस्कृति और अश्लीलता फैलाने वालों से विद्यार्थी परिषद् और विहिप की वाहिनियाँ निपट रही हैं। शिव सैनिक और बजरंगदली निपट रहे हैं। इसी तरह का निपटान इटली और जर्मनी में भी हुआ था। डाक्टर साहब (हेगडेवार) और गुरूजी (गोलवलकर) ने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। फिल्मों की शूटिंग प्रदर्शन और नाटकों के मंचन भी कोई पहली बार नहीं रोके जा रहे हैं। पुस्तकालयों का ध्वंस कोई पहली बार नहीं हो रहा है।

अभी बहुत दिन नहीं हुए हैं जब कानपुर में और लखनऊ में वैलेंटाइन डे पर प्रेमियों-प्रेमिकाओं, संभावित प्रेमियों - प्रेमिकाओं और संदिग्ध प्रेमियों - प्रेमिकाओं को पीटा गया, उनसे परस्पर राखी बँधवाई गई। इसके ठीक बाद विद्यार्थी परिषद ने कानपुर में लड़कियों के तीन विद्यालयों और सह शिक्षा के एक विद्यालय में ड्रेस कोड लागू करवाने का दावा किया। लड़कियों के जीन्स और स्कर्ट पहनने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। अश्लील और विदेशी पोशाक!

पर यहीं मेरे दिमाग में शंका का एक कीड़ा कुलबुलाने लगता है। इतिहास के पन्ने पलटता हूँ। विद्वज्जनों की राय लेता हूँ। बात बनती नहीं। शंका यह है कि खाकी हाफ पैण्ट क्या हमारी भारतीय परम्परा की पोशाक है? राम-कृष्ण, जैसे पौराणिक चरित्र या राणा प्रताप, शिवाजी जैसे इतिहास पुरुष, उनके सैनिक, दरबारी कोई भी तो हाफ-पैण्ट नहीं पहनते थे। यह तो खाँटी विदेशी पोशाक है-हमारे यहाँ गोरे साहबों की तफरीह पोशाक थी जो उनकी देखा-देखी कुछ काले-भूरे साहब भी पहना करते थे। हाँ, कछ खास किस्म के नात्सी दस्ते भी पहनते थे शायद। भारतीय संस्कृति में तो धोती और सिर्फ धोती रही है। ऊपर कुछ नहीं, या ज्यादा से ज्यादा अंगरखा, चादर और भाँति-भाँति के गहने। मिर्जई, पाजामा, कुर्ता आदि तो मध्यकाल में मुसलमानों के ("यवनों" के) द्वारा लाये गये। शर्ट, बुशशर्ट, कमीज, कोट-यह सब यूरोपीय उपनिवेशवादी लेकर आये। अब यह बात समझ में नहीं आती कि आर.एस.एस. और भाजपा प्रधान मंत्री और अन्य मंत्रियों की विदेशी पोशाकों पर रोक क्यों नहीं लगाती!

आर.एस.एस. की टोपी भी भारतीय नहीं है। भारत के विभिन्न हिस्सों में पगड़ी, मुरैठा या खास तरह की टोपियों (जैसे गुजरात में) का चलन था। सल्तनत काल और मुगल काल में फारस, तुर्की, अरब, अफगानिस्तान और समरकन्द के इलाकों से कुछ टोपियाँ आईं। पर आर.एस.एस. की टोपी खाँटी यूरोपीय काट की सैनिक टोपी है।

अब श्लीलता-अश्लीलता का सवाल भी बड़ा उलझा हुआ है। क्षमा करें, मुझे तो आर.एस.एस. की हाफ पैण्ट ही बहुत अश्लील लगती है। एक तो प्रायः छोटी होती है, घुटनों से काफी ऊपर। दूसरे उसका पाँयचा या घेरा बहुत चौड़ा होता है। चुस्त होती तो थोड़ी गनीमत होती। कुछ-कुछ मिनी स्कर्ट जैसी हाती है। बैठने पर और भद्दी लगती है। सुबह-सुबह सभी पार्कों मे आर.एस.एस. के स्वयंसेवक यही पोशाक पहने मिल जाते हैं। महिलाओं की उपस्थिति में अच्छा नहीं लगता। ये स्वयंसेवकगण धोती-कुर्ता या कोई और सलीके की भारतीय पोशाक क्यों नहीं पहनते? छोटे-छोटे पैण्टों में प्रौढ़ स्वयंसेवकों के ढीले, थलथल करते शरीर अश्लील लगते हैं।

कोई सांस्कृतिक लेखपाल नियुक्त होगा तो उसके दफ्तर में मेरी पहली दरख्वास्त यह होगी कि आर.एस.एस. वालों की विदेशी और अश्लील पोशाक बदलवाये या फिर ऐसे वस्त्र धारण करके उन्हें सार्वजनिक स्थानों पर आने से रोके। 'ड्रेस कोड' बने। भारतीयता लागू हो। विदेशी प्रभाव और अश्लीलता पर रोक लगे। पर नियम सबके लिए समान हों। बल्कि भाजपाइयों और संघियों को पहले तो खुद ही आगे बढ़कर मिसाल पेश करनी चाहिए। 'स्वदेशी' को भी पहले अपने ऊपर लागू कीजिए जनाब! दोमुँहेपन से अश्लील और कुछ नहीं होता।

●

'आह्वान' के पाठकों के लिए हम इस अंक में विश्वप्रसिद्ध उपन्यास 'अग्निदीक्षा' के यशस्वी लेखक निकोलाई ओस्त्रोव्स्की के बारे में से.त्रेगुब का एक लेख और ओस्त्रोव्स्की का एक अधूरा साक्षात्कार प्रकाशित कर रहे हैं।

ओस्त्रोव्स्की बन्द अध्ययन कक्षों का नाजुक जीव नहीं, बल्कि एक क्रान्तियोद्धा था। भयंकर गरीबी और अभाव से लड़ते हुए किशोरावस्था में ही वह क्रान्ति ज्वार में शामिल हो गया। तमाम शोषितों की मुक्ति और समाजवाद की रक्षा के युद्ध में उसने अपना जीवन होम कर दिया। युवावस्था में ही जब शरीर ने जवाब दे दिया तो उसने लेखनी को हथियार बनाया और आखिरी साँस तक क्रान्तिकारी साहित्य लिखता रहा।

ओस्त्रोव्स्की का छोटा-सा जीवन और थोड़ी-सी रचनाएँ क्षितिज पर जलती मशाल की तरह हैं जो आज भी एक शोषणमुक्त न्यायपूर्ण समाज के सपने देखने वाले और बेहतर भविष्य के लिए संघर्ष को तत्पर दुनिया भर के युवाओं को प्रेरित करती रहती हैं।

-सम्पादक

निकोलाई ओस्त्रोव्स्की

• से. त्रेगुब

कितनी उज्जवल कीर्ति है जिसे लेखक निकोलाई ओस्त्रोव्स्की अपने पीछे छोड़ गया है। आज उसके उपन्यास 'अग्नि-दीक्षा' का तरुण नायक, काली-काली आँखोंवाला पावेल कोर्चागिन, संसार भर के, हर देश और जाति के सहस्रों स्त्री-पुरुषों और बच्चों के लिए जीवन भर का साथी बन गया है, ऐसा साथी जो अपने दृढ़-संकल्प और साहस से, अपने अदम्य जीवन-प्रेम से, कठिनाइयों से जूझनेवाली अपनी दृढ़ता से, एक मिसाल कायम कर उन्हें अनुप्राणित करता रहता है।

ओस्त्रोव्स्की ने एक जगह लिखा है: "वह मनुष्य बड़ा भाग्यशाली है जिसकी रचनाएँ उसकी मृत्यु के बाद भी मानव-जाति की सेवा करती रहती हैं।" जैसा उसका जीवन था और जो काम उसने कर दिखाया, उससे स्वयं ही उसकी वह कामना पूरी हो गयी।

क्षण भर के लिए कल्पना कीजिये कि समय ने अपने पन्ने पीछे की ओर उलट दिये हैं – कि ओस्त्रोव्स्की अभी जीवित है। 1935 का वर्ष और दिसम्बर का महीना। 'अग्नि-दीक्षा' छप चुकी है और सोवियत जनता ने अपने एक योग्य और देशभक्त पुत्र के निःस्वार्थ श्रम की सराहना की है। ओस्त्रोव्स्की को लेनिन पदक से विभूषित किया गया है। और अब वह सोची से मास्को आया है ताकि अपनी दूसरी किताब 'तूफ़ान के जाये' पर अपना काम जारी रख सके। आप 40, गोर्की स्ट्रीट में उसके कमरों मे उससे मिलने जाते है।

बड़ी आशा और उत्साह से आप चौड़ी सीढ़ियों पर चढ़ते हुए दूसरी मंजिल पर पहुँचते हैं, फिर ड्योढ़ी लाँघकर घण्टी बजाते हैं। दरवाजा खुलता है। इसके बाद एक और दरवाजा खुलता है और आप अपने को उसके कमरे में खड़ा पाते हैं।

वह सामने लेटा हुआ है – एक कृशकाय व्यक्ति, कमर तक कम्बल ओढ़े हुए। उसका क्षीण किन्तु अनुभूतिशील चेहरा – एक चिन्तनशील तथा एकाग्र मानसिक प्रयास करने वाले व्यक्ति का चेहरा – किसी अन्तःप्रेरणा से चमक रहा है। उसके चेहरे पर उसके आन्तरिक विचार, अपनी प्रत्येक गतिविधि और परिवर्तन में उसी तरह झलक रहे हैं जैसे शीशे में प्रतिबिम्ब। ऊँचा, उन्नत ललाट, दाहिनी भौंह के ऊपर एक छोटा-सा गड्ढ़ा, कई बरस पहले के एक जख्म का निशान। गहरी धंसी हुई आँखें बिल्कुल खुली हैं, मानों अब भी देख रही हों। वह खाकी रंग का फौजी कोट पहने हुए है। लेनिन पदक छाती पर चमक रहा है।

कमरे में कुछ-कुछ अँधेरा है, बड़ी खिड़की पर मोटे-मोटे पर्दे टँगे हुए हैं ताकि सड़क पर की आवाजें अन्दर न आ सकें।

बायीं ओर दीवार पर, पलंग के ऊपर, लेनिन की तस्वीर टँगी है, दायीं ओर कोने में एक मेज है। कमरे में एक चमड़े का सोफा है, पियानो, किताबों की अलमारी, तथा हैनरी बारबूस की मूर्ति।

पर अब आपके पास इधर-उधर देखने का वक़्त नहीं है। आपका मेजबान, जिसे आपके बारे में पहले से बतला दिया गया है, आपसे बातें करने लगा है। उसकी आवाज में यौवन का ओज है। वह आपको अपने पास बैठने को कहता है, और बड़ी कठिनाई से केवल अपने बायें हाथ की हथेली हिला पाता है। अब उसके शरीर के सभी अवयवों में से केवल हाथों में ही कुछ थोड़ी गति रह गयी है। अभिवादन में वह आपका हाथ दबाता है, और जितनी देर तक आप उसके पास रहेंगे, वह सारा वक़्त आपका हाथ अपने हाथ में लिये रहेगा।

आप सोचते हैं कि शायद आपके हाथ को इस तरह पकड़ने से और अपनी चेतन उँगलियों द्वारा उसे दबाते रहने से, उसकी मानसिक दृष्टि के आगे आपका चेहरा स्पष्ट हो रहा है और वह समझ रहा है कि किस ढंग का आदमी उससे मिलने आया है।

"जब मैं आपका हाथ अपने हाथ में लेता हूँ," वह कहता है, मानों आपके अनुमान की पुष्टि कर रहा हो, "तो मैं आपकी बात को ज्यादा अच्छी तरह समझ पाता हूँ, आप मेरे सामने अधिक सजीव हो उठते हैं। इससे मुझे बड़ी सहायता मिलती है।"

जब वार्तालाप बढ़ निकलता है तो आप भूलने लगते हैं कि जो

आदमी आपके सामने लेटा हुआ है वह अन्ध भी है और रोगग्रस्त भी।

"जो प्रभाव मुझ पर ओस्त्रोव्स्की के व्यक्तित्व का पड़ा," उसके एक मित्र माते जाल्का ने लिखा है, "उसमें परस्पर विरोधी बातें मिलती हैं, परन्तु मुख्यतया मैं उससे मिलकर प्रोत्साहित और प्रसन्न हुआ। ये सब बातें कि वह सीधा पीठ के बल लेटा है, खाट के साथ जुड़ा हुआ है, अन्धा है इत्यादि – ये केवल बाहर की बातें रह जातीं हैं। भीतरी सत्य यह है कि उसमें बल है, साहस है, वह एक वीर योद्धा है। उसमें अब भी लाल फ़ौज के एक सिपाही की आन है। वह समझता है कि वह अब भी सेना की पंक्ति में आगे बढ़ रहा है। और वह निःसन्देह सेना की पंक्ति में है, सबसे आगे। उसकी शारीरिक स्थिति बिल्कुल गौण, प्रासंगिक-सी बात मालूम होती है : इसके कारण उसे दुख है, पर वह स्थायी नहीं, अजेय नहीं, किसी तरह भी निर्णायक नहीं।"

यह बिल्कुल सच है! उसके पास बैठते हुए, उसकी उत्साह भरी बातों को सुनते हुए, उसके विचारों की तीव्र उत्कंठित उड़ान को अनुभव करते हुए, आप भूल जाते हैं कि आप एक बीमार के पास बैठे हैं। "जब मैं अपनी आँखें बन्द करता हूँ ..." वह कहता है – और आपको यह ख़्याल तक नहीं रहता कि उसकी आँखें पिछले कई बरसों से अन्धी हैं। वह अपने "नज़ले" का जिक्र करता है –और आप समझते हैं कि उसे केवल जुकाम की तकलीफ है। वह कहता है–"मैं पढ़ता हूँ," "मैं लिखता हूँ," "मैं जाने की सोच रहा हूँ," "मुझे अभिलेख-संग्रहालय में इसकी खोज करनी होगी," "मैं कांग्रेस में बोलने के लिए अपना भाषण तैयार कर रहा हूँ"। आँखों से अन्धा है पर उसकी नज़र कई आँखोंवालों की नज़र से तेज है। सारा वक़्त बदन में दर्द रहता है, बीमारी ऐसी है जिसका कोई इलाज नहीं। तिसपर भी उससे इतना ओज और मानवप्रेम विकीर्ण होता है, कि आपका मन गर्व से भर उठता है। अनुकम्पा से नहीं, कदापि नहीं! और आप अपने प्रमाद का ख़्याल करके लज्जा से गड़ जाते हैं कि किस तरह कई काम जो आज या कल या परसों किये जा सकते थे, अधूरे पड़े रह गये।

"बीमारी इन्सान का सबसे बड़ा शत्रु नहीं," वह कह रहा है, "नेत्रहीन होना बहुत भयानक है, पर इस पर भी काबू पाया जा सकता है। पर एक चीज़ है जो सबसे अधिक भयानक है: वह है सुस्ती। केवल सुस्ती। जब मनुष्य के दिल में काम करने का शौक नहीं, आन्तरिक आग्रह नहीं, जब रात को सोते वक़्त वह इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता: 'आज के दिन मैंने कौन सा काम पूरा किया?' तो यह बहुत ही चिन्ताजनक स्थिति है। ख़तरा इसी में है। उस समय चाहिए कि उसके मित्र उसे मिलकर समझायें और उसके बचाव के साध्न ढूँढें–क्योंकि उस पर विपत्ति आने वाली है। इसके विपरीत, यदि मनुष्य काम के प्रति अपना उत्साह बनाये रखे, और काम करता जाय, तो कुछ भी हो, रुकावटों और कठिनाइयों के बावजूद, वह मनुष्य एक सामान्य क्रियाशील प्राणी बना रहता है। उसके बारे में कोई चिन्ता नहीं होती।"

वह कहे जा रहा है, और धीरे-धीरे अधिकाधिक खुलने लगता है :

"मैं तुम्हें भेद की बात बताऊँ : मनुष्य कई बार बड़ा तुच्छ और विनाशी जीव हो उठता है। वही आदमी वास्तव में मनुष्य कहा जा सकता है जिसके सामने कोई ऊँचा आदर्श हो, जीवन का कोई ध्येय हो। तब उसका जीवन एकांगी नहीं रहता – तब वह पेट के लिए या मेदे के लिए या शरीर के किसी अंग-विशेष के लिए नहीं जीता। उसके जीवन में एक पूर्णता आने लगती है। और इसी से मनुष्य और अन्य जीवों के भेद का पता चलता है। इसी में मनुष्य की शक्ति निहित है। एक ऐसा आदर्श है जो न केवल व्यक्तियों को बल्कि राष्ट्रों तक को सच्चे वीरों में परिणत कर सकता है। वह है कम्युनिज़्म का, जनता के सुख के लिए संघर्षरत रहने का आदर्श। मुझे इस बात का गर्व है कि मैं बोल्शेविक हूँ, कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य हूँ। और इसके नाते मैं एक मनुष्य हूँ, मैं उस तरह जी सकता हूँ, जैसे कि एक मनुष्य को जीना चाहिए। मैं यह भी कह सकता हूँ, दिखावे के तौर पर नहीं, बल्कि सच्चे दिल से, कि मैं सुखी प्राणी हूँ।"

सच है, ओस्त्रोव्स्की सुखी था। उसके कहने और करने में कोई अन्तर न था। जितना ही अधिक कोई उसे समझ पाता था, उतना ही अधिक वह उसके जीवन के इस सत्य से प्रभावित हो उठता था।

निकोलाई ओस्त्रोव्स्की का जन्म 29 सितम्बर 1904 में हुआ। पिता एक शराब के कारखाने में काम करते थे, पर आमदनी इतनी न थी कि परिवार का पालन कर सकें, इसलिए माँ को लोगों के घरों में रसोई बनाने का काम करना पड़ता था। जब निकोलाई 12 बरस का हुआ तो वह भी रसोइये का काम करने लगा। बाद में वह एक भण्डार का मज़दूर और फिर इंजन की भट्ठी में कोयला झोंकने वाले एक स्टोकर का सहायक बन गया। और उसके बाद वह किसी बिजली-मिस्त्री की शागिर्दी करने लगा। 1919 में वह युवा कम्युनिस्ट लीग (कोम्सोमोल) में शामिल हो गया, और स्वेच्छा से लड़ाई पर चला गया। उसी वक्त से उसका जीवन कम्युनिस्ट पार्टी के महान कार्य के साथ एक अटूट सम्बन्ध में बँध गया।

इस तरह 15 साल की उम्र में ओस्त्रोव्स्की गृह-युद्ध में कोतोव्स्की और बुद्योन्नी के नेतृत्व में लड़ा। फिर शान्तिपूर्ण निर्माण-कार्य के समय उसने बड़ी वीरता से काम किया–रेलवे वर्कशाप बनाने, रेलवे लाइनें लगाने, नदी में लकड़ी के कुन्दे बहाने इत्यादि में। फिर युवा कम्युनिस्ट लीग के एक कार्यकर्ता की हैसियत से, पहले बरेज्दोव और फिर इज़्यस्लाव्ल जिलों में अपने समूचे जन्मजात उत्साह के साथ काम में जुटा रहा। "जो जलता नहीं, वह धुएँ में अपने आपको नष्ट कर देता है," उसने एक जगह लिखा है, "यह एक अमर सत्य है। जीवन की ज्वलन्त शिखा, मैं तेरा अभिवादन करता हूँ!" और जो भी काम पार्टी और लीग ने उसके जिम्मे सौंपा, वह उसे अपने यौवन की समूची शक्ति और उत्साह के साथ करता रहा।

1924 के अन्तिम दिनों में ओस्त्रोव्स्की सख़्त बीमार पड़ गया। रोग रीढ़ की हड्डी में था। अपने छोटे-से जीवन में उसने हर तरह की तकलीफें झेली थीं–बचपन में ग़रीबी, फिर युद्ध के घाव, युद्ध के बाद कड़ा परिश्रम जिसमें न आराम था न नींद–ये सब मिलकर जैसे अब उसके स्वास्थ्य को कुचलने लगीं।

ओस्त्रोव्स्की जो सदा क्रियात्मक संघर्ष

में भाग लेता रहा था, और जीवन के निर्माण में संलग्न रहा था, अब पिछड़ गया और सबसे पीछे कहीं "आखिरी सैन्य पंक्ति" में रह गया। उस समय सोवियत भूमि के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक निर्माण-कार्य के प्रति अदम्य उत्साह की लहर दौड़ रही थी। यह वे दिन थे जब देश एक ही लम्बे डग में आगे बढ़ जाने के लिए अपनी पहली पंचवर्षीय योजना की तैयारी कर रहा था। उद्योग और कृषि की फिर से व्यवस्था की जा रही थी। एक सांस्कृतिक क्रान्ति देश को उद्वेलित किये हुए थी। ऐसे निर्माण-कार्य में, जिसकी तुलना इतिहास में कहीं नहीं मिलती, युवाजन इकट्ठे हो रहे थे, ओस्त्रोव्स्की की ही पीढ़ी के युवक इस कड़े किन्तु सुखद परिश्रम में जुटे हुए थे।

इसलिए बाध्य होकर निष्क्रिय पड़े रहने के कारण वह और भी दुखी था।

पर देश ने उसकी सहायता की। इलाज के लिए उसे देश के सर्वोत्कृष्ट अस्पतालों और विश्रामगृहों में भेजा गयाः ख़ारकोव, येवपातोरिया, स्लाव्यान्स्क, मास्को, सोची इत्यादि में वह रहा। और स्वयं उसने बरबस कोशिश की कि वह किसी भाँति फिर काम करने लग जाय, सक्रिय सैनिकों की पंक्ति में खड़ा हो पाये।

"अस्पताल की चहारदीवारी के बाहर जीवन की प्रत्येक गतिविधि में उसकी गहरी रुचि थी। वह खूब पढ़ता, और अपने बीमार साथियों के साथ अख़बार पढ़ने, राजनीतिक विषयों तथा तात्कालिक घटनाओं पर बहस करने की व्यवस्था करता। वह एक दृढ़ाग्रही कम्युनिस्ट होने के नाते अपना लक्ष्य जानता था। वह जानता था कि उसे किस चीज़ के लिए लड़ना है ... उसके प्रखर व्यक्तित्व के सामने उसकी बीमारी मानो सिकुड़कर तुच्छ हो जाती थी, अपना अस्तित्व खो बैठती थी।" यह विचार ओस्त्रोव्स्की के बारे में नर्स आन्ना पाव्लोवना दवीदोवा का था जो ख़ारकोव के चिकित्सा-प्राविधिक अनुसन्धान गृह में काम करती थी। और यही विचार ओस्त्रोव्स्की के बारे में उन सभी लोगों का था जो उन दिनों उसके सम्पर्क में आये–छोटे से छोटे युवा कम्युनिस्ट लीग के सदस्यों से लेकर, वयस्क कम्युनिस्टों तक। यही विचार उसके मित्रों–इन्नोकेन्ती पाव्लोविच फ़ेदेनेव, ख़िसान्फ पाव्लोविच चेर्नोकोजोव, अलेक्सान्द्रा अलेक्सेयेवना जिगिर्योवा–का भी था जिन्होंने मुसीबत के दिनों में उसकी सहायता की थी।

"एक लक्ष्य है जिसके लिए मुझे जीना है–कहीं पर मेरी जरूरत है,"–इस विचार की प्रेरणा ने उसे सहने की क्षमता दी, अपने शारीरिक कष्टों पर क़ाबू पाने की शक्ति दी।

इस काल में ओस्त्रोव्स्की की मानसिक दृढ़ता, घोर आत्मनियंत्रण, दृढ़ संकल्प और एकलक्ष्यता उभरकर सामने आ गये। जितनी ही उसकी कठिनाइयाँ बढ़ती गयीं उतनी ही दृढ़ता से वह अपने उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए संघर्षरत रहा, कि वह फिर किसी तरह काम करनेवालों की पंक्ति में खड़ा हो सके।

तदनुरूप ओस्त्रोव्स्की मास्को के स्वेर्दलोव कम्युनिस्ट विश्वविद्यालय का छात्र बन गया और पत्रव्यवहार द्वारा मार्क्सवाद-लेनिनवाद के ग्रन्थों का अध्ययन करने लगा।

एक छोटे-से क्रिस्टल रेडियो-सेट से उसे बड़ी सहायता मिली। जो विषय वह पढ़ रहा था, उन पर बाक़ायदा रेडियो पर लेक्चर हुआ करते थे, और वह इन्हें सुनने में कभी न चूकता था।

एक स्थानीय पुस्तकालय से उसके साथी उसे पुस्तकें, अखबार और पत्रिकाएँ लाकर देते रहते।

दमीत्री पाव्लोविच ख़ोरुजेन्को, जो उन दिनों नावोरोसीस्क बन्दरगाह पर पुस्तकालय का अध्यक्ष था, कहता है कि "मैं उसे ढेर की ढेर किताबें लाकर देता, किताबों के बण्डल रस्सियों से बाँध-बाँधकर उसके पास ले जाता। वह विलक्षण आदमी कुछ ही दिनों में सब की सब पढ़ डालता। पहले पहल मैं हर एक किताब का नाम इत्यादि इसकी पाठक-पुस्तिका में नोट करा देता। पर मुझे गोंद के साथ बार-बार नये पन्ने जोड़ने पड़ते जिससे वह मोटी होने लगी। आखिर पुस्तकालय के सभी नियमों और उपनियमों का उल्लंघन करते हुए, मैं केवल पुस्तकों की संख्या दर्ज़ करने लगा, साथ में तफ़सील कुछ न देता। मैं दुकान से किताबें लेकर सीधे इसके पास ले जाता, उन्हें रजिस्टर में चढ़ाने से भी पहले, ताकि वह अपने मतलब की किताबें खुद चुन ले।"

ओस्त्रोव्स्की का दृष्टिकोण जैसा जनता के प्रति था वैसा ही पुस्तकों के प्रति भी था –एक तन्मय, क्रियाशील सैनिक का दृष्टिकोण।

मक्सिम गोर्की के प्रति वह विशेषतया आकृष्ट हुआ।

"कैसी विलक्षण रचना है!" उसने गोर्की के गीत 'तूफ़ानी पक्षी' के बारे में कहा था। "यही तो उन्मत्त यौवन का गीत है, लक्ष्यप्राप्ति के लिए आत्मविश्वास से भरपूर, सौंदर्यपूर्ण जीवन और स्वच्छन्दता के उद्दीप्त स्वप्नों को साकार करने की महत्वाकांक्षा लिये हुए! वह एक बारूद का गोला है जो एक विशालकाय सैनिक ने अपनी बलवती बाँह से प्रगति और संस्कृति के शत्रुओं के शिविर में फेंका है। हाँ, गोर्की सर्वोत्कृष्ट लेखक है, ऐसा गीत पहले कभी किसी ने नहीं लिखा!"

पुश्किन, लेर्मोन्तोव, गोगोल, नेक्रोसोव, तोलस्तोय, चेखोव, कोरोलेंको, सेरफ़िमोविच, फूर्मानोव, शोलोख़ोव, फ़देयेव, नोविकोव प्रिबोई, फ़ेदिन, बालज़ाक, विक्टोर ह्यूगो, जोला, जैक लन्डन, ड्राइजर, केलरमन, बारबूस – इनकी और अन्य कितने ही लेखेकों की रचनाएँ इस काल में ओस्त्रोव्स्की ने बार-बार पढ़ीं।

विशेष तौर पर उसने गृह-युद्ध सम्बन्धी साहित्य को–उपन्यास, लेख, दस्तावेज, संस्मरण–संग्रहबद्ध रूप में हों या पत्रिकाओं में छोटे-छोटे लेखों के रूप में–सबको बड़े ध्यान से पढ़ा।

उसने अपनी दिनचर्या निश्चित कर रखी थी, इतना समय राजनीतिक साहित्य को, इतना उपन्यासों को, इतना चिट्ठी-पत्री को, इत्यादि। पहले इस कार्यक्रम में सैर भी शामिल थी, पर बाद में सैर छोड़नी पड़ी, क्योंकि शरीर बरदाश्त न कर सकता था। कार्यक्रम में, "वक़्त जो जाया हुआ" नामक एक शीर्षक भी रहता जिसके नीचे नाश्ता, भोजन, शाम का भोजन, आराम इत्यादि पर खर्च हुए वक्त का विवरण रहता।

वह जीवन के साथ केवल "चिपटे रहना" नहीं चाहता था। जैसा कि ओस्त्रोव्स्की ने बाद में कहा, उसने "अपने अन्तरतम में अपने जीवन-मार्ग की रूपरेखा स्वयं बना ली थी"। वह अपना लक्ष्य जानता था। और उसने अपना स्थान क्रियाशील लोगों की पंक्ति में बना लिया था।

जाहिर है कि उसने इसी काल में लेखनी हाथ में लेने का संकल्प किया।

1927 में नोवोरोसीस्क प्योत्र निकोलायेविच नोविकोव के नाम अपने एक पत्र में उसने कहा : "मैं कुछ लिखने की सोच रहा हूँ–एक तरह की 'ऐतिहासिक-गीतमय- वीरगाथा'। सचमुच–मजाक नहीं करता, मैं बड़ी गंभीरता से लिखने की सोच रहा हूँ। मैं केवल यह नहीं जानता कि उसका नतीजा क्या निकलेगा।"

उस समय वह गृह-युद्ध के वीरों–कोतोव्स्की और उसके सैन्यदल–के बारे में सोच रहा था। उसने 1927 की शरद में लिखना शुरू किया और 1928 के शुरू में उसे समाप्त कर दिया।

अब उसकी दिनचर्या में 'लिखने' को भी नियमित रूप से समय मिलने लगा और पहली दिलचस्पियाँ पीछे हटती गयीं। नाश्ते के फौरन ही बाद, चुपके से वह अपने सिरहाने के नीचे एक मोटी-सी कापी निकाल लेता और लिखना शुरू कर देता। कई बार वह इसमें इतना लीन हो जाता कि उसे काम से छुड़ाकर भोजन कराना कठिन हो जाता। वह खीज उठता और कहता कि लोग उसे इस "बेमतलब भोजन" के लिए इतना तंग क्यों करते हैं; या वचन देकर कहता कि कुछ ही दिनों में–ज्यों ही वह काम से निबट लेगा–वह सब के सब भोजन एक साथ खा लेगा।

जब कहानी लिखी गयी तो उसे उसने ओदेसा में अपने पराने सैनिक साथियों के पास भेजा। कोई दो हफ्ते बाद उनका जवाब आया–एक ही संयुक्त चिट्ठी के रूप में, कि रचना सामान्यतया अच्छी है, केवल कहीं-कहीं विवरणों में सुधार की ज़रूरत है। ओस्त्रोव्स्की की खुशी का ठिकाना न था।

पर जब पाण्डुलिपि को ओदेसा से वापिस भेजा गया तो वह कहीं रास्ते में खो गयी, उसकी कोई दूसरी नकल मौजूद नहीं थी। कहानी का कहीं पता न चला। "बहुत देर के बाद," ओस्त्रोव्स्की की पत्नी लिखती है, "निकोलाई इस सदमे को भूल पाया।" वह बहुत दुखी हुआ पर जल्दी उसने फिर अपने आपको सम्भाल लिया। और इसके बाद कभी इस गहरे सदमे की चर्चा नहीं की, न कभी चिट्ठियों में, न अपने घरवालों से या मित्रों के साथ बातचीत में।

अपने पहले साहित्यिक प्रयास के प्रति साथियों के इस प्रोत्साहन से ओस्त्रोव्स्की का अपनी योग्यता में विश्वास बढ़ गया। उसने अपनी पढ़ाई फिर शुरू कर दी, ताकि अपने इस नये कार्यक्षेत्र के नियमों में कुशलता प्राप्त कर सके। और साथ ही मन में वह एक नयी फस्तक की रूपरेखा आँकने लगा।

ऐसे समय में जब जान पड़ता कि वह ज्यादा दिन नहीं जियेगा, जब शरीर की निरुद्धता के साथ-साथ दृष्टिहीनता आने लगी थी, और सब कुछ खत्म होता जान पड़ता था, ओस्त्रोव्स्की ने सोची से प्योत्र निकोलायेविच नोविकोव को एक पत्र में लिखा (11 सितम्बर, 1930)–

"मैंने अपने जीवन को उपयोगी बनाने का एक और उपाय सोचा है, और केवल इसी से जीवन को सार्थकता मिल सकती है। मेरी यह योजना बड़ी कठिन है, सरल बिल्कुल नहीं। यदि मैं इसे क्रियान्वित कर पाया तो इस बारे में तुम्हें और लिखूँगा। मेरे जीवन-मार्ग में कुछ भी अनिश्चित नहीं। मेरे जीवन की गतिविधि सदा सीधी होती है, इसमें कोई घुमाव या हेर-फेर नहीं होते। मैं जानता हूँ कि मैं कहाँ खड़ा हूँ और मेरे लिए उद्विग्न होने का कोई कारण नहीं। मैं ऐसे लोगों से स्वभावतया घृणा करता हूँ और उन्हें निकृष्ट समझता हूँ जो जीवन के निर्मम आघात पड़ने पर रोने-बिलखने लगते हैं।"

"मैं आज बेशक अपनी खाट से जा लगा हूँ। पर इसका मतलब यह नहीं कि मैं बीमार हूँ। यह कहना बिल्कुल गलत होगा, मूढ़ प्रलाप होगा। मैं बिल्कुल स्वस्थ हूँ। क्या हुआ जो मेरी टाँगें काम नहीं करतीं और मैं कुछ देख नहीं सकता। यह तो बिल्कुल एक भ्रम है–तुच्छ और पैशाचिक परिहास!"

कितनी विलक्षण, कैसी अद्‌भुत संकल्प-दृढ़ता है! मृत्यु को चुनौती देनेवाली! और ऐसे समय में जब जान पड़ता था कि मौत किसी वक़्त भी आकर उसे दबोच सकती है। उसका शरीर धीरे-धीरे नष्ट हो रहा था और डाक्टर बेबस थे। वह जानता था कि वह कभी भी बिस्तर पर से अब नहीं उठ पायेगा, न कुछ देख सकेगा, न चल-फिर सकेगा। तो इससे क्या हुआ?

उसने अपना रास्ता ढूँढ निकाला था। वह अपनी रचना के पन्नों द्वारा जीवन में क्रियाशील रहेगा!

वह जानता था, बहुत पहले से जानता था कि उसे क्या लिखना है। वह नयी पीढ़ी के लोगों के लिए एक पुस्तक होगी: क्रान्ति के एक सेनानी की कहानी, जिसे किसी तरह के भी कष्ट और कठिनाइयाँ हतोत्साह नहीं कर पातीं। यह उसकी अपनी कहानी होगी, जो वह युवकों के लिए लिखेगा, इस आशा से कि "वह मज़दूर लड़का जिसे मैं जानता था" –पावेल कोर्चागिन–अपने पाठकों को उस संघर्ष की प्रेरणा दे पाये जिस संघर्ष में उसने स्वयं भाग लिया था।

उसकी पाण्डुलिपियों को देखते हुए जो अब ओस्त्रोव्स्की स्मारक-संग्रहालयों में रखी हैं (मास्को, सोची तथा शेपेतोव्का में) यह साफ पता चल जाता है कि इन किताबों पर उसे कितनी कड़ी मेहनत करनी पड़ी होगी।

पहले कोई भी उसकी सहायता करनेवाला नहीं था। उसकी पत्नी दिन भर व्यस्त रहती, अपने काम में और सार्वजनिक कार्यों में, और शाम के वक्त वह सदा थकी होती। वह वहाँ लेटे-लेटे, अपनी कठोर अकड़ी हई उँगलियों में पेंसिल को जैसे-तैसे पकड़कर लिख रहा होता – या यों कहिये कि एक के बाद दूसरे शब्द की, बड़ी कठिनाई से रेखाएँ खींच रहा होता। कई बार एक रेखा पिछली रेखा पर चढ़ जाती और दोनों विकृत हो जातीं।

फिर एक यन्त्र बनाया गया जो सहायक सिद्ध हुआ। एक सादा गत्ते का दोहरा टुकड़ा लिया गया, जिसके ऊपरवाले भाग में आठ मिलीमीटर चौड़ी सीधी लाइनें काट ली गयीं। इनके अन्दर चलती हुई पेंसिल टेढ़ी पंक्ति में न लिख सकती थी और इस तरह प्रत्येक पंक्ति सीधी और स्पष्ट लिखी जाती।

इस काल में ओस्त्रोव्स्की अधिकतर रात के वक्त काम किया करता, जब सब लोग सो रहे होते। सोने से पहले उसकी पत्नी या माँ 25-30 काग़ज और बहुत-सी पेंसिलें छीलकर उसके पास रख जाती। जब सुबह होती, तो सब काग़ज लिखे हुए मिलते। दिन के वक़्त मित्र और परिवार के लोग उन्हें बड़े ध्यान से नक़ल कर लेते।

"क्रियात्मकता की ज्वलन्त शिखा" –इस नाम से रोमां रोलां ने ओस्त्रोव्स्की को पुकारा था। इस दीप्त शिखा को बुझाने के लिए जितनी ही तेज और विषम आंधियाँ चलतीं, उतनी ही इसकी लौ और तेज हो जाती।

ओस्त्रोव्स्की ने 'अग्निदीक्षा' को दो भागों में लिखा। यह उपन्यास उसके अपने जीवन पर आधारित था। उसे आशा थी कि वह एक तीसरा भाग 'कोर्चागिन का सौभाग्य' के नाम से ("अवश्यमेव") लिखेगा (उसके जीवन की सुखमय घड़ियों की चर्चा पहले दो भागों में नहीं है)। उसने एक दूसरे उपन्यास 'तूफान के जाये' का प्रथम भाग लिखा जिसे वह अपनी मृत्यु के कुछ ही दिन पहले समाप्त कर पाया। इसके दो भाग और लिखकर वह इसे पूरा करना चाहता था। ("केवल किताब लिखने के लिए नहीं परन्तु इसे अपने हृदय की आग से प्रज्वलित करने के लिए।") एक फिल्म लेखक के साथ मिलकर उसने 'अग्नि-दीक्षा' की पटकथा लिखी। उसका विचार एक बच्चों की पुस्तक लिखने का भी था जिसका नाम वह 'पाव्का का बचपन' रखना चाहता था ("यह मुझे अवश्यमेव लिखना है"); इसके अतिरिक्त एक पुस्तक बुद्योन्नी के बारे में; एक संग्रह हास्यरस की कहानियों का। इसके अलावा लेख लिखना, युवा कम्युनिस्ट लीग तथा लेखक-सम्मेलनों में भाषण देना... अखबारों, पत्रिकाओं, पुस्तकों की रोजाना पढ़ाई... इसके कमरे में "मिलनेवालों का तांता" लगा रहता जिनमें लेखक, ऐक्टर, पुस्तकालयाध्यक्ष, प्रसिद्ध सामूहिक फार्मों के किसान, लेनिनग्राद के युवा कम्युनिस्ट लीग के सदस्य, उसके अपने नगर शेपेतोव्का से आये हुए लोग इत्यादि होते। वह टेलीफोन पर बातें करता, रेडियो सुनता, अपने विभिन्न पत्रकारों की चिट्ठियों का जवाब देता। जब भी कभी उसे किसी की तनिक भी सहायता करने का अवसर मिलता तो उसे हार्दिक प्रसन्नता होती।

इन सब बातों से उसे जीवन में परिपूर्णता का भास होता था–यह सुखमय आभास कि मैं भी और लोगों की तरह काम कर रहा हूँ, सैन्य पंक्तियों में आगे बढ़ रहा हूँ।

वह जितने दिन जिया, बड़ा कर्तव्यपरायण रहा।

"मैं जानता हूँ कि मैं बहुत दिन नही जिऊँगा," उसने लिखा, "मेरे अन्दर एक आग है जो मुझे खाये जा रही है, और उसे नियन्त्रण में रखने के लिए मुझे अपनी समूची संकल्प-शक्ति को लगाने की जरूत रहती है। इस समय तो मैं ज्यों-त्यों ऐसा करने में समर्थ हूँ। मुझे इस अवसर से पूरा-पूरा लाभ उठाना है, जो प्रकृति ने मुझे सौंप रखा है, इसके चुक जाने से पहले मैं जो कुछ भी अपनी जनता के लिए लिख सकता हूँ, मुझे लिखना होगा। मेरे पास समय थोड़ा रह गया है... मुझे जल्दी करनी होगी।"

नवम्बर 1936 में ओस्त्रोव्स्की की नयी फस्तक 'तूफान के जाये' के पहले भाग की पाण्डुलिपि पर विचार करने के लिए मास्को में एक संयुक्त बैठक हुई। यह बैठक उसी के घर पर हुई और इसमें सोवियत लेखक संघ के अध्यक्षमण्डल तथा सोवियत संघ की लेनिनवादी युवा कम्युनिस्ट लीग की केन्द्रीय समिति ने भाग लिया। विचार-विनिमय के बाद ओस्त्रोव्स्की ने मैत्रीपूर्ण आलोचना के लिए सबको हार्दिक धन्यवाद दिया और वचन दिया कि एक दिन आराम करने के बाद ("मैं अपने को इतने भर विश्राम की इजाजत जरूर दूंगा") वह फिर इस किताब पर, प्रेस के लिए आखिरी पाण्डुलिपि तैयार करने के काम पर जुट जायेगा। वह किसी भी स्वस्थ आदमी के लिए पूरे तीन महीने का काम था; पर ओस्त्रोव्स्की ने उसे एक महीने में करने का निश्चय किया।

"मुझे रात को नींद नहीं आती," उसने कहा, "इससे भी मदद मिलेगी। कई लोग अपने रोग का इलाज आराम द्वारा करते है और कुछ लोग–काम के द्वारा।"

वास्तव में काम द्वारा ही उसने अपना 'इलाज' किया: सुबह नौ बजे से लेकर रात के दस, ग्यारह, कभी-कभी बारह बजे तक, काम करता, बीच में केवल थोड़ी-थोड़ी देर के लिए किसी-किसी वक़्त आराम कर लेता।

उसके परिवार के लोग बड़ी चिन्ता के साथ यह सब देख रहे थे। वह सचमुच अपनी बची-खुची शक्ति होम कर रहा था। उन्होंने इसकी मिन्नतें की कि थोड़ी मुद्दत के लिए काम स्थगित कर दो और आराम करो, पर वह विलम्ब की बात सुन तक न सकता था। बड़ी बेरहमी के साथ उसने अपने आपको जोते रखा और अपने सहायकों को भी, जिन्हें वह अपने "सदरमक़ाम के कर्मचारी" कहा करता था।

इसके बिस्तर के साथ एक मेज लगी रहती थी। उस पर तथा कुर्सियों और सोफे पर पाण्डुलिपियों की प्रतियाँ पड़ी होतीं, जिनपर इनके सम्पादकों ने अपनी टिप्पणियाँ लिखी होतीं। पन्ना-पन्ना करके काम आगे बढ़ रहा था। पहले लेखक की रचना का मूल पाठ किया जाता; फिर हर प्रति के एक-एक पन्ने पर दी गयी टिप्पणियों का।

अपने मन में एक-एक शब्द, एक-एक वाक्य को तौलते हुए ओस्त्रोव्स्की कहीं शब्द बदलता, कहीं जोड़ता, कहीं काटता और इस तरह उपन्यास का आखिरी रूप तैयार होने लगा। एक बात स्थिर करने के बाद वह अपने सहायकों से और भी तेजी से काम करने का आग्रह करता : "लगे रहो, दोस्तो, लगे रहो!" यही उसकी एकमात्र माँग होती।

दिन पर दिन बीतते रहे। यह कड़ा श्रम जारी रहा। इसे स्थगित किया जाता तो केवल भोजन के लिए, अख़बारों और चिट्ठियों को पढ़ने के लिए, और प्रातः तथा सायं रेडियो पर ख़बरें सुनने के लिए।

आखिरी पन्ने का संशोधन 11 दिसम्बर को हुआ।

"'तूफान के जाये' के पहले भाग पर जो काम करना बाकी था आज मैंने उसे समाप्त कर दिया," उसने अपनी माँ को लिखा, "इस तरह मैंने अपना वचन पूरा कर दिया है जो लीग की केन्द्रीय समिति को दिया था कि मैं 15 दिसम्बर तक किताब ख़त्म कर दूँगा। पिछले सारे महीने में हर रोज 'तीन पाली' काम किया; अपने साथ काम करने वालों को बुरी तरह थका मारा। सुबह से लेकर गहरी रात गये तक उनसे काम लेता रहा, और बीच में कोई छुट्टी तक नहीं दी। बेचारी लड़कियाँ! न मालूम वे मेरे बारे में क्या सोचती होंगी। मैंने सचमुच उन पर बहुत जुल्म किया है। पर अब यह और नहीं होगा। मैं बयान नहीं कर सकता कि कितना थक गया हूँ, पर किताब खत्म हो गयी है।"

कुछ दिन आराम करने के बाद

ओस्त्रोव्स्की 'तूफान के जाये' के दूसरे भाग पर काम करना चाहता था। उसकी एक फाइल में इसके लिए इकट्ठी की गयी ऐतिहासिक सामग्री के संक्षिप्त विवरण और कुछ एक पन्ने उपन्यास के भी लिखे हुए पड़े थे। उसे आशा थी कि वह उपन्यास को (भाग 2 और 3) अक्टूबर क्रान्ति की बीसवीं सालगिरह तक–यानी एक साल से भी कम समय में–लिख डालेगा।

पर वही पत्र जो उसने माँ को लिखा और जिसमें से ऊपर उद्धरण दिया गया है उसकी अन्तिम रचना थी।

15 दिसम्बर को बीमारी का एक और दौरा आया जो अन्तिम और घातक सिद्ध हुआ। जिस तरह वह दर्द से छटपटाया, वह किसी भी इन्सान के लिए असह्य होता। विवश होकर उसने मार्फिया का इंजेक्शन लेना स्वीकार किया।

पर उसने 'कोम्सोमोल्स्काया प्राव्दा' के दफ़्तर को टेलीफोन किया–

"क्या माड्रिड के मोर्चे पर साथी अब भी डटे हुए हैं?"

फ्रांको के फासिस्ट लश्कर स्पेन की राजधानी का घेरा डाले बैठे थे।

माड्रिड का मोर्चा अभी तक क़ायम था और ओस्त्रोव्स्की ने उल्लसित होकर कहा–

"ठीक है : तो मैं भी डटा रहूँगा!"

पर क्षण भर बाद, उदास-सी आवाज़ में बोला–

"पर इसकी संभावना नज़र नहीं आती।"

बीमारी का दौरा इतनी तीव्रता के साथ आया कि बरसों के कड़े परिश्रम से थकी-हारी दुर्बल देह इस हमले को सहन न कर सकी।

डाक्टरों की सब कोशिशें निष्फल रहीं। वे इस दौरे को रोक नहीं पाये। मौत बढ़ी चली आ रही थी।

ओस्त्रोव्स्की जिस साहस के साथ जिया उसी साहस के साथ उसने मौत का सामना किया।

एक दिन–21 दिसम्बर को–वह अपनी नर्स से पूछने लगा जो उसके कमरे में काम करती थी कि वह कितने बरस से नर्स का काम कर रही है।

"26 बरस से," उसने जवाब दिया।

"और इस दौरान में तुमने बड़े दुख और यातनाएँ देखी होंगी, तुम्हारा काम ही जो ऐसा है?"

"हाँ, बेशक, बहुत कुछ देखा है।"

"और अब मेरी बारी है, मैं भी तुम्हें

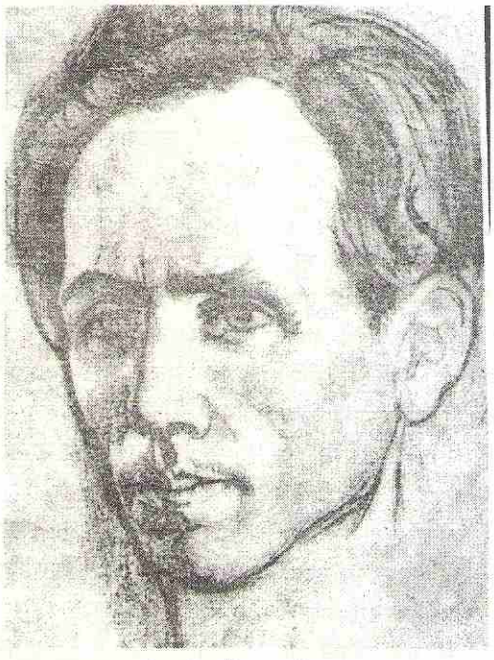

बहुत खुशी नहीं पहुँचा पाऊँगा।"

बड़ी मुश्किल से नर्स अपने आँसू रोक पायी।

"तुम क्या कह रहे हो?" आश्वासन देने का विफल प्रयास करती हुई वह बोली। "तुम कुछ ही दिनों में ठीक हो जाओगे। मुझे पक्का विश्वास है। और तुम्हें स्वस्थ देखकर मुझे कितनी खुशी होगी।"

"नहीं, नहीं, मैं अपनी हालत अच्छी तरह जानता हूँ। मैं तुम्हें खुश नहीं कर पाऊँगा। पर अफसोस। मुझे अपना काम समाप्त करने के लिए केवल एक साल की और ज़रूरत थी। मैं कितना काम अधूरा छोड़े जा रहा हूँ। और मेरी लीग–वह मुझसे कितनी चीज़ों की आशा करती है।"

उसी रात, जब उसकी पत्नी उसके सिरहाने बैठी थी, वह कहने लगा–

"प्यारी राया, मेरी तबियत बिगड़ती जा रही है। मुझे बहुत दर्द है। डाक्टर मुझे सच-सच नहीं बताते। मुझे लगता है कि यह दौरा मुझे लेकर रहेगा।"

थोड़ी देर तक वह चुपचाप लेटा रहा। केवल उसकी भवें तनी हुई थीं, जैसे वह पीड़ा को दबाने की चेष्टा कर रहा हो।

"जो कुछ मैं तुम्हें कह रहा हूँ, इसे तुम मेरे आखिरी वाक्य समझो। हो सकता है मैं इसके बाद अपनी चेतना खो बैठूँ। मैंने बुरा जीवन नहीं बिताया। मैं जो कुछ हूँ अपना बनाया हुआ हूँ। कुछ भी आसान न था, कोई भी बात अपने आप सीधे नहीं हुई। मैं सदा संघर्ष करता रहा और–तुम तो जानती हो– मैंने कभी हार नहीं मानी। और अब मैं तुम्हें यही बताना चाहता हूँ कि यदि कभी जीवन तुम्हारे लिए कठिन हो उठे तो मुझे याद कर लेना। एक और बात। जहाँ भी तुम हो, जिस काम में भी लगी हो, पढ़ना और सीखना जारी रखना। इसे कभी नहीं छोड़ना। अध्ययन के बिना कभी कोई उन्नति नहीं कर सकता। और हमारी माताओं को नहीं भूलना। जीवन भर उन्हें हमारी चिन्ता रही है। मुझे उन पर दया आती है। हम उनके कितने ऋणी हैं। कितने ऋणी हैं! हमने उनके लिए क्या किया है? उनका ख्याल रखना। उन्हें कभी नहीं भूलना।"

22 दिसम्बर 1936 को ओस्त्रोव्स्की की मृत्यु हुई। उस समय उसकी अवस्था केवल 32 वर्ष की थी।

ऐसा था उस अद्भुत वीर का अन्त –जिसके जीवन की आखिरी साँस भी कम्युनिज़्म के महान लक्ष्य के लिए निछावर हुई। कैसा साहसपूर्ण, उन्मत्त और सौन्दर्य से भरा उसका जीवन था!

पर ऐसे मनुष्य कब मरते हैं?

मौत ने उसके हाथ से उस वक्त क़लम छीन ली जब वह अपने रचनात्मक श्रम के शिखर पर था। पर उसकी अनुपम रचनाएँ हमारे पास हैं, उसके सत्य से अनुप्राणित वाक्य, उसके जीवन का उत्कृष्ट आदर्श– कितना संक्षिप्त, पर कितना महान!

मेरे सपने

('कोम्सोमोल्स्काया प्राव्दा' पत्र के साहित्यिक विभाग के प्रबन्धक से. त्रेगुब के साथ वार्तालाप नवम्बर (1936) एक अपूर्ण अभिलेख)

निकोलाई ओस्त्रोव्स्की

त्रेगुबः आपके स्वप्न किस प्रकार के होते हैं?

ओस्त्रोव्स्कीः मैं अपने सपनों पर यदि दस मोटे-मोटे ग्रन्थ भी लिख दूँ, तो भी वे समाप्त न होंगे। मैं हर वक़्त स्वप्न देखता रहता हूँ, सुबह से शाम तक, हाँ, और रात को भी। किस चीज़ के? यह कहना मुश्किल है। यह कोई फ़िज़ूल-सा सपना नहीं जो दिन प्रतिदिन और एक महीने के बाद दूसरे महीने तक चलता रहे। वह हर वक़्त बदलता रहता है – सूर्योदय की तरह, या सूर्यास्त की तरह ... मैं समझता हूँ कि स्वप्न देखना जीवन में फिर से ताज़गी लाने का अद्‌भुत साधन है। जब मेरी बहुत-सी ताक़त खर्च हो जाती है, और मैं एक निःशेष बैटरी की तरह कमज़ोर महसूस करने लगता हूँ तब मुझे अपने में नयी ताक़त पैदा करने के साध्न ढूँढने पड़ते हैं, कोई ऐसी चीज़ जिससे मेरी ताक़त फिर से जुट सके। मेरे स्वप्न – चाहे वे कभी कभी कपोल-कल्पित जान पड़ें पर वे सदा इस धरती के होते हैं, इस जीवन के होते हैं। मैं असम्भव के सपने कभी नहीं देखता।

...मैं अपने देश की, अपने जनतन्त्र की शक्ति को कई गुना बढ़ा सकूँ – यह इच्छा कभी भी इतनी तीव्र नहीं होती जितनी कि स्वप्न देखते समय। यदि इनसान पूँजीपतियों की सारी की सारी दौलत, अरबों रूबल ले ले, उनकी सभी मशीनें – वह सब सामान जो अनुपयोगी और निरर्थक उनके हाथों में पड़ा हुआ है; यदि इनसान उनके मज़दूरों को ला सके, भूखे, परिश्रम से थके-हारे, दरिद्रता और यातना की अन्तिम सीमा तक पहुँचे हुए – यदि इनसान उन्हें यहाँ ला सके और उन्हें काम और नया जीवन दे सके। और मेरी आँखों के सामने एक जहाज आ जाता है, जो उन्हें यहाँ हमारे पास ला रहा है। उनसे आनन्दभरी भेंट मेरी आँखों के सामने आती है। लोग आज़ाद और प्रसन्न हैं।

सपनों की कोई सीमा नहीं होती... अक्सर मेरे मस्तिष्क के किसी कोने में एक छोटी-सी चिनगारी जल उठती है, और मेरी आँखों के सामने एक दृश्य बढ़ने और फैलने लगता है और एक विजयपूर्ण प्रयाण के दृश्य में परिणत हो जाता है। ऐसे सपनों से मुझे बहुत लाभ होता है। प्रेम, निजी सुख – मेरे सपनों में इनके लिए बहुत कम स्थान है। आदमी अपने से कभी झूठ नहीं बोलता। उस खुशी से बढ़कर, जो एक सैनिक को मिलती है, मेरे लिए कोई और खुशी नहीं जो बिल्कुल निजी है, वह अल्पजीवी है। उसकी संभावनाएँ कभी इतनी विशाल नहीं हो पातीं, जितनी कि उस चीज़ की जो समूचे समाज से सम्बन्ध रखती है। मैं इसे अपने जीवन का सबसे गौरवमय कर्तव्य समझता हूँ, सबसे गौरवमय लक्ष्य, कि मनुष्य के उज्ज्वल भविष्य के लिए जो संघर्ष चल रहा है उसमें मैं एक सैनिक बनूँ, और वह भी सबसे छोटा सैनिक नहीं। मेरा कर्तव्य है कि मैं उस संघर्ष में नायक के स्थान पर लड़ूँ। मैं अपने सपनों में कभी भी केवल हुक्म बजा लेनेवाले के रूप में अपने को नहीं देखता।

मैं इन सपनों को कभी भी शब्दबद्ध नहीं कर पाऊँगा। इन अद्‌भुत, हृदयग्राही विचारों को ठीक तरह से व्यक्त करने की क्षमता किसी में भी नहीं है।

कभी-कभी, कोई मूढ़मति मेरे सामने इस क़िस्म की शिकायत करने लगता है कि उसकी पत्नी किसी दूसरे को प्रेम करने लगी है, और अब उसके लिए जीवन निस्सार हो गया है। इस तरह की बकवास। सारा वक़्त उसके मुँह से लार टपकती रहती है। और मैं दिल में सोचता हूँ : अगर मुझे वह सब कुछ मिला होता जो इसके पास है–स्वास्थ्य, हिल-डुल सकने वाले हाथ-पाँव, इस असीम संसार में घूम-फिर सकने की क्षमता, (यह एक ख़तरनाक स्वप्न है और मैं इसे देखने से अपने को रोके रखता हूँ)–यदि मेरे पास वह सब कुछ होता तो मैं क्या करता? अपनी कल्पना में मैं उठ खड़ा होता हूँ, जवान, स्वस्थ, छाती ताने हुए मैं कपड़े पहनता हूँ और बाहर छज्जे पर आ खड़ा होता हूँ, और जीवन-प्रवाह मेरे सामने बह रहा होता है... फिर क्या? मैं चलूँगा नहीं, मैं तो दौड़ूँगा–दौड़े बग़ैर मैं रह नहीं सकता। मैं रेलगाड़ी के साथ-साथ, सारा रास्ता भागता हुआ शायद मास्को जाऊँगा, लिखाचोव मोटर-कारख़ाने में जाऊँगा और सीधे अपने साथियों के पास पहुचूँगा, और जाते ही एक भट्‌ठी का मुँह खोल दूँगा, ताकि जल्दी से जल्दी कोयले की बास सूँघ सकूँ, और भट्‌ठी को कोयले से भर सकूँ। मैं साठ-सत्तर दिन काम एक दिन में करूँगा। मैं इतना काम करूँगा कि कोई विश्वास भी नहीं कर पायेगा। मेरे दिल में ज़िन्दगी की भूख होगी, बिल्कुल पागलों की सी। और अपने शरीर को थकाने के लिए मुझे बहुत काम करना पड़ेगा, बहुत शक्ति लगानी पड़ेगी। गतिहीनता से, नौ बरस की गतिहीनता से छुटकारा पाने के बाद मैं काम पर यों जुट जाऊँगा कि छोड़ूँगा ही नहीं जब तक कि जी न भर जाय।

ये विचार मेरे मन में उठते हैं, जब कोई बेवकूफ़, लार टपकाता हुआ, मेरे सामने आकर रोता है कि उसके सामने जीवन का कोई लक्ष्य नहीं। अगर मेरे पास वह सब कुछ होता जो उसके पास है तो अगर मेरी पत्नी, एक बार नहीं, पचास बार भी मुझे धोखा देगी, तो भी मैं परवाह नहीं करूँगा। सदा मन में यही भावना रहेगी कि जीवन एक विलक्षण चमत्कार है।

हमारे देश के हर व्यक्ति का यह पावन कर्तव्य है कि वह साहसी वीर बने। हमारे देश में हर इनसान में योग्यता है, बुद्धि है–सिवाय

निठल्ले और आलसी लोगों के। वे योग्य बनना चाहते ही नहीं। शून्य में से तो केवल शून्य ही निकलता है। पत्थर में से जल नहीं निकलेगा। जो ज्वाला बनकर जलता नहीं वह धुएँ में ही अपने आपको नष्ट कर देता है। यह शाश्वत सत्य है। हे जीवन की ज्वलन्त शिखा, मैं तुझे प्रणाम करता हूँ!

यह कभी मत सोचना कि मैं दुःखी हूँ, या उदास हूँ। मैं यह कभी भी नहीं था। जब तक जीवन में मेरी जीत नहीं हुई, मेरा संकल्प कभी नहीं टूटा–मैंने कभी हार नहीं मानी। मुझे मालूम तो नहीं था कि ज़िन्दगी यह रुख़ पकड़ेगी। मैं युवा अध्ययन-मण्डल का काम करते हुए बहुत खुश रहा करता था। तब मेरे शरीर में ताक़त थी। मैं तीन तीन घण्टे तक लगातार बोल सकता था। जितनी देर मैं बोलता रहता, सुननेवाले बीस युवकों में से एक भी न हिलता था, ऊँची साँस तक लेने की आवाज़ न आती थी। अग्नि-दीक्षा आज भी मौजूद है, और यह ज्ञान भी कि जीवन का कोई लक्ष्य है, कि मेरी ज़रूरत कहीं पर है। यदि मनुष्य सैकड़ों को नहीं सिखा सकता तो पाँच को ही सिखा दे। एक को ही सिखा दे, और यह छोटी चीज़ नहीं, पाँच बोल्शेविक तैयार करना मामूली बात नहीं।

पर जब इनसान यह महसूस करे कि उसमें काम करने की इच्छा ही नहीं रही, तब उसकी स्थिति चिन्ताजनक समझनी चाहिए।

अहंवादी सबसे पहले गिरता है। वह केवल अपने में और अपने लिए जीता है। और एक बार उसके अहं को चोट लग जाय, तो उसके जीवन के आधार टूट जाते हैं। उसे अपने सामने अहं तथा मौत की भयावनी काली रात के अलावा कुछ नज़र नहीं आता। इसके विपरीत, जो मनुष्य अपने को समाज के जीवन में खपा देता है– उसको गिराना आसान नहीं। उसे मारने से पहले तुम्हें उसके समाज को, उसके देश को तबाहोबरबाद करना होगा। मैं ज़ख़्मी हो गया हूँ, पर मेरी सैनिकों की टुकड़ी जीवित है और उसी तरह काम कर रही है। और युद्ध-भूमि में पड़ा हुआ मृतप्राय सैनिक, जब अपने साथियों की विजयध्वनि सुनता है तो उसका हृदय एक पूर्णता से, गहरे सन्तोष से भर उठता है। एक सैनिक के लिए इससे भयंकर कोई स्मृति नहीं कि उसने कभी ग़द्दारी की थी, अपनी टुकड़ी को तबाह करवाया था। मरते दम तक वह इस विश्वासघात की आग में जलता रहेगा।

कम्युनिज़्म में भी व्यक्तिगत स्तर पर भ्रम, क्लेश इत्यादि होंगे। पर लोगों का जीवन संकीर्ण व्यक्तिगत दायरे में फँसा नहीं रहेगा। जीवन में सौन्दर्य का आविर्भाव होगा।

हमारे साथियों की वीरता क्षणभंगुर वीरता नहीं होती। व्यक्तिगत दुःख उनके लिए गौण है। जब मनुष्य संघर्ष करना छोड़ देता है तो उसके जीवन में दुःख आने लगता है।

जीवन का प्रत्येक दिन मेरे लिए यातना और पीड़ा के विरुद्ध विकट संघर्ष का दिन होता है। मेरे जीवन में दस साल से यही चल रहा है। जब तुम मेरे होंठों पर मुस्कान देखते हो, तो यह मुस्कान सच्ची और सच्चे सुख की सूचक होती है। इन सब यातनाओं के होते हुए भी मैं खुश हूँ और इस खुशी का स्रोत है उन नित नये महान कामों की सम्पन्नता जो मेरे देश में हो रहे हैं। यातना और पीड़ा पर विजय पा लेने से बढ़कर कोई सुख नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य केवल जीता भर रहे, साँस भर लेता रहे (हालाँकि इसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती)। मेरा अभिप्राय संघर्ष और विजय से है।

मैं जब मास्को से यहाँ आया तो थका हुआ और बीमार था। मैं बहुत परिश्रम करता रहा था। पर मेरी बीमारी से मेरे ओज की क्षति नहीं हो पायी। बल्कि इससे वह एक जगह सिमटकर इकट्ठा हो गया है। मैं अपने आपसे कहा करता हूँ: "याद रखो, संभव है तुम कल मर जाओ, जब तक तुम्हारे पास समय है, काम करते जाओ!"

और मैं काम में जुट गया। मेरे आस-पास के लोग हैरान रह गये। मैं बड़े उत्साह और उल्लास से काम करता था।

मैं ऐसे आदमी से घृणा करता हूँ जो उँगली दुःखने पर छटपटाने लगता है, जिसके लिए पत्नी की सनक क्रान्ति से अधिक महत्व रखती है, जो ओछी ईर्ष्या में घर की खिड़कियाँ और प्लेटें तक तोड़ने लगता है। या वह कवि जो हर क्षण ठंडी साँसें भरता हुआ व्याकुल रहता है, कुछ लिख पाने के लिए विषय ढूँढ़ता-फिरता है, और जब कभी विषय मिल जाता है तो लिख नहीं पाता क्योंकि उसका मूड ठीक नहीं, या उसे जुकाम हो गया है और नाक चल रही है। उस आदमी की तरह जो गले में मफ़लर लपेटे डरता-काँपता घर से बाहर नहीं निकलता कि कहीं हवा न लग जाय। और उसे थोड़ी-सी हरारत हो जाय तो डर से उसका खून सूखने लगता है, वह बिलखने लगता है, और अपना वसीयतनामा लिखने बैठ जाता है। इतना डरो नहीं, साथी! अपने जुकाम के बारे में सोचना छोड़ दो। काम करने लगोगे तो तुम्हारा जुकाम ठीक हो जायेगा।

और उस लेखक से भी घृणा करता हूँ जो एक बैल की तरह हृष्ट-पुष्ट है। पर पिछले तीन साल से अपनी किसी अपूर्ण पुस्तक में से एक टुकड़ा बार बार अपने श्रोताओं को सुना-सुनाकर पैसे कमा रहा है। हर बार पढ़ने के उसे दो सौ पचास रूबल मिल जाते हैं। "अब भी दुनिया में ख़ासे बेवकूफ़ मौजूद हैं," वह दिल ही दिल में कहता और हँसता है, "मुझे अगले छः साल तक एक शब्द भी लिखने की ज़रूरत नहीं।" उसके पास लिखने के लिए वक़्त ही नहीं। वह खाने, सोने और औरतों के पीछे भागने में व्यस्त है – कैसी भी औरतें हों, सुन्दर या असुन्दर, सत्तरह बरस की हों या सत्तर बरस की। स्वास्थ्य – हाँ, स्वास्थ्य का वह धनी है; पर उसके हृदय में कोई चिनगारी नहीं।

मैं कई शानदार वक्ताओं को जानता हूँ। वे अपने शब्दों से अद्भुत चित्र खींच सकते हैं, और अपने श्रोताओं को सदाचार, और नेकी से रहने का उपदेश देते हैं, पर उनके जीवन में ये गुण नहीं होते। मंच पर खड़े होकर वे अपने श्रोताओं को बड़े बड़े काम करने का सदुपदेश देते हैं, पर उनका अपना जीवन घृणित और कुत्सित होता है। आप उस चोर की कल्पना करें जो ईमानदारी की शिक्षा देता है, जो ऊँची आवाज़ में चिल्ला चिल्लाकर कहता है कि चोरी करना पाप है – और जब वह बोल रहा होता है, अपने श्रोताओं को ध्यान से देखता भी रहता है कि किसकी जेब वह सबसे आसानी से काट सकता है। या उस भगोड़े को लीजिये, जो खुद युद्ध-क्षेत्र से भागकर आया है, और सच्चे सैनिकों को स्वेच्छा से आगे बढ़ने का उपदेश दे रहा है। हमारे सैनिकों को उस जैसों के साथ कोई हमदर्दी नहीं।

अगर वह उन्हें कहीं मिल जाय, तो मार मारकर उसे अधमरा कर देंगे। और हमारे बीच ऐसे लेखक भी मौजूद हैं जो कहते कुछ हैं और करते कुछ और। यह चीज़ लेखक के धन्धे से मेल नहीं खाती।

लेखक का दुर्भाग्य तब शुरू होता है जब उसके विचार, उत्कृष्ट और सजीव, उसकी क़लम पर नहीं आ पाते; उसके दिल में तो आग की ज्वाला होती है, पर जब उसे काग़ज पर रखता है, तो वह अधबुझी, ठण्डी राख होती है। जिस सामग्री पर लेखक काम करता है, उसको अपनी आवश्यकतानुसार गढ़ना इतना कठिन होता है कि उससे बढ़कर कठिन काम दुनिया में न होगा।

मैं अपने नये चरित्रों, 'तूफ़ान के जाये' के युवकों और युवतियों से प्यार करने लगा हूँ: राइमन्द से, बेपरवाह आन्द्रेई से, उस मितभाषी, नाजुक युवक ष्पेनीचेक से, उस गोल-मटोल प्यारी-सी ओलेस्या, और सुन्दर सारा से – जो बाद में इतनी शानदार क्रान्तिकारी निकली। मुझे उन सब से प्यार है। मैं हर वक़्त उनके बारे में सोचता रहता हूं और उनमें से कई एक का भविष्य तो अभी से मेरे सामने स्पष्ट होने लगा है।

ओलेस्या फ़ौज के कमाण्डर शाबेल को, जो उसके दिल में आन्द्रेई का स्थान लेने लगेगा, ब्याह करने का वचन दे देगी। पर वह उससे कहेगी: "मैं जंग के बाद तुम्हारी हो जाऊँगी, पर पहले नहीं।" वह एक रोज़ शराब पीकर आयेगा और उसके विश्वास को तोड़ देगा। इसे ओलेस्या कभी क्षमा नहीं करेगी। और फिर उसके सामने आन्द्रेई आ खड़ा होगा – लड़ाई में से अकस्मात् बचकर आया हुआ, जहाँ ओलेस्या को खो बैठने की निराशा में वह जान-बूझकर मरने के लिए तैयार होकर गया था। और ये दोनों जीवन में एक साथ रहेंगे। ष्पेनीचेक की कहानी असाधरण और अत्यन्त रोचक होगी। लड़ाई में उसकी एक टाँग कट जायेगी और वह अपनी टुकड़ी पर बोझ बन जायेगा। वह सोचेगा कि जब मैं लड़ नहीं सकता तो जीवन में मैं किसी काम का नहीं रहा। फिर, वसन्त ऋतु में, उस चक्की में जहाँ वह काम करता है, फ्रान्सीस्का उसे मिलेगी जो उसको अपने प्रेमपूर्ण हृदय से लगाकर उसे अपना प्यार देगी, पर वह ज़्यादा देर तक उसके साथ नहीं रह पायेगी। उसके नारी-गर्व को चोट लगेगी जब लोग अनुकम्पा भरी आँखों से उसे और उसके प्रेमी की ओर देखेंगे। वह उसे छोड़ जायेगी। ष्पेनीचेक अन्तःप्रेरणावश अपनी सैनिक टुकड़ी की ओर जायेगा। वह अपने साथी सैनिकों से याचना करेगा कि मुझे फिर से साथ मिला लो, पर वे केवल हँस देंगे। वे कहेंगे: "जाओ और बत्तखें पालो। हमें तो लड़ना है।" फिर भी वह किसी तरह उन्हें मना लेगा। और कुछ नहीं तो वह उनका बावर्ची ही बनकर रहेगा। उसका पेशा भी तो पेस्ट्री बनाना है। वे उसे अपने रक्षाशिविर में ले जायेंगे, और वहाँ वह उनका खाना बनाने लगेगा, और उन्हें स्वादिष्ट मिठाइयाँ बना बनाकर खिलायेगा, जैसी कि उन्होंने कभी पहले नहीं खायीं। वह सर्वप्रिय हो उठेगा। पर उसका दिल तो एक सैनिक का दिल है। वह इस क़िस्म के जीवन से क्योंकर सन्तुष्ट होगा। वह उनकी मशीनगनें साफ़ करने लगेगा, और उनके पुर्ज़े अलग करने और जोड़ने में मदद देगा। मशीनगनों को वह इतनी अच्छी तरह से जान जायेगा कि वह आंखें बन्द करके उन्हें खोल सकेगा और उनके पुर्जे जोड़ सकेगा। और ज्यों-ज्यों वक़्त गुज़रता है वह मशीनगन चलाने लगता है, और ऐसी कि उससे शत्रु का दिल दहलने लगता है। लोग उस लंगड़े मशीनगन चालक के गीत गाने लगते हैं जो किसी से नहीं डरता और जो दुश्मन का सफ़ाया किये बिना नहीं रहता। दो बार उसे पदकों से सम्मानित किया जाता है। अब वह बैसखियों पर उचकता हुआ नहीं चलता। उसके लिए एक लकड़ी की टांग बना दी गयी है। उसे फिर फ्रान्सीस्का मिलती है, और विजय के गौरव में वह फिर उसके पास आ जाती है। यह हैं मेरे चरित्रों के भाग्य और उनके आपसी सम्बन्धें की रूपरेखा

डायरी? नहीं, मैं डायरी नहीं रख सकता। डायरी में सब कुछ होना चाहिए, प्रेम की स्फूर्ति तक, गुप्त से गुप्त सपनों तक। दरअसल यह अपने आपसे वार्तालाप के समान है, जो स्पष्ट और सच्चा हो। इसके लिए बड़े साहस की ज़रूरत है। इस ख़्याल से लिखना कि वह बाद में कभी छपेगी, इतिहास बनेगी, यह मेरी नज़रों में घृणित चीज़ है। वह डायरी नहीं होगी, एक साहित्यिक कृति होगी। मेरे लिए डायरी रखना अनिवार्य हो जाता यदि मैं स्वय डायरी लिख पाता। पर मैं कदापि अपने गहरे आन्तरिक भावों को किसी दूसरे के हाथ से नहीं लिखवा सकता (ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं कर सकता)। कई बातें ऐसी होती हैं जिन्हें स्वयं, अपने लिए भी स्वीकार करना कठिन होता है। कई ऐसी भावनाएँ होती हैं जिन्हें निरावरण नहीं किया जा सकता, जैसे हम लोगों के सामने नंगे, वस्त्रहीन होकर नहीं आ सकते। शायद इस नग्नता में सौन्दर्य हो, पर ऐसा करना असंभव होता है। अनेक इच्छाएँ और भावनाएं दिल की गहराइयों में रहती हैं, जिन्हें डायरी को भी नहीं सौंपा जा सकता। परन्तु – यदि मनुष्य के आन्तरिक संसार और इर्द-गिर्द की दुनिया का आपस में विरोध बहुत बढ़ जाय तो उसे चाहिए कि वह रुक जाय और अपने आपसे पूछे: यदि मैं अपने विचारों को अपने सामने भी स्वीकार करने में लज्जित महसूस करता हूँ, तो मैं आदमी किस प्रकार का हूँ?

मनुष्य के जीवन में कोई भी बात इतनी लज्जाजनक न होनी चाहिए कि वह उसे लिख तक न सके। ऐसी डायरी बड़ी ज़रूरी चीज़ है। यह मनुष्य के अपनें चरित्र-निर्माण में बड़ी सहायक होती है। फूर्मानोव की डायरी तथा उसके रेखाचित्र बहुमुल्य सामग्री है।*

*दमीत्री फूर्मानोव का प्रसिद्ध उपन्यास 'चपायेव' बहुत हद तक उन डायरियों पर आधारित है जिनमें फूर्मानोव ने गृहयुद्ध के काल में अपने विचार, प्रभाव तथा घटनाओं को नोट कर रखा था।

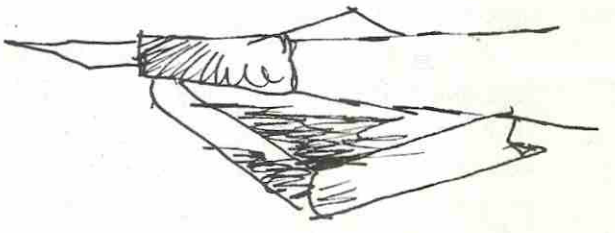

साहित्य

इच्छाधारी लोग

• श्रीरंग

इच्छाधारी लोग
बिलों में नहीं रहते
रहते हैं देवलोक में
शीत में सेंकते हैं
ऐश्वर्य की कुनकुनी धूप
ग्रीष्म में रहते हैं
कल्पतरुओं की वातानुकूलित छाँव में

इच्छाधारी लोग
आरामकुर्सियों पर लेटे-लेटे
गिंजवाते हैं
औरतों से पाँव
देखते हुए दूरदर्शन
लेते देश-दुनियाँ की खबर
तलाशते हैं
खबरों की फाइल चित्र में
अपने सम्भाषण

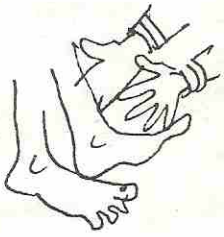

इच्छाधारी लोग
रहते हैं स्वर्ग में
वहीं से रखते हैं
धरती पर निगाह
मुखबिरों के मार्फत
अपने विरुद्ध नारेबाजी, धरना, प्रदर्शन
की खबर सुनकर
धीरे से छोड़ देते हैं हवा

इच्छाधारी लोग
शूद्र मानवों के लिए निषिद्ध
आकाशीय देवमार्गों पर
करते हैं विचरण
स्वर्णपंखों वाले श्वेत घोड़ों से जुते
रथ पर सवार होकर

इच्छाधारी लोग
रहते हैं अपनी प्रभुता सम्पन्नता में धुत्त
अपने पुष्पक विमानों से
कभी-कभार देख लेते हैं
धरती का सुख, दुख, बाढ़, सूखा,
त्रासदी
और पैकेटों में फेंक देते हैं
राहत सामग्री

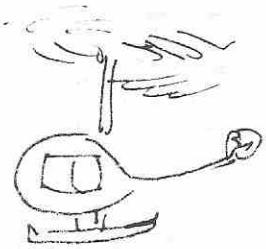

इच्छाधारी लोग
खेलते हैं चौपड़
फेंकते हैं पासे
पीते हैं सोमरस
बिछाकर प्रजा को गोट की तरह

इच्छाधारी लोगों का
चुना-चुनाया होता है इन्द्र
देवराज देवताओं को छोड़कर
करते हैं दुनिया पर राज
क्योंकि इन्द्र राजा तो होता है
पर देवता प्रजा नहीं

इच्छाधारी लोग
होते हैं अजर-अमर
उनके साथ होता है
तीन मुख वाला ईश्वर
जो तीन होकर भी रहता है एक
बदलता है वेश
लेता है अवतार
भेजता है प्रतिनिधि
केवल और केवल
अपने जैसे इच्छाधारियों के हित में

इच्छाधारी लोग
डस लेते हैं इच्छा होने पर...।

कविता कृष्णपल्लवी की कविताएँ

आग

एक
आग है
फिर-फिर आविष्कृत
एक आदिम राग।
कहती हुई
जाग! जाग!!

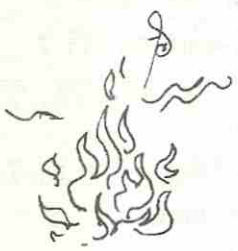

दो
आग
एक बेहद पुरानी चीज़ है
मनुष्य के लिए
मगर उतनी ही ज़रूरी।
बेशक
उसे दहकाने के तरीके
ईजाद होते रहे हैं
नये-नये।
आग की ज़रूरत से इंकार
बदलाव से इंकार है।
जीवन की विदाई है
आग के लिए विदागीत।
मृत्यु की अभ्यर्थना है।

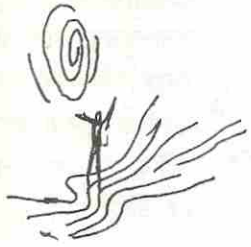

तीन
चूल्हे बुझ चुके हों
जिस बस्ती में
हमेशा के लिए।
वहाँ कोई नहीं होता
मुसाफिर का
स्वागत करने के लिए।
चूल्हों का बुझना
जीवन का बुझ जाना है।

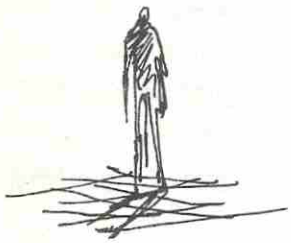

चार
मगर एक तीली भी
बची हो कहीं,
तो फिर से
जीवित की जा सकती है आग।
लपटों के नृत्य पर
तरंगित हो सकता है जीवन
फिर से।

बाज़ार

एक
हामिद के बेटे
गये थे बाजार।
अँधेरे कोने में कहीं
जंग खा रहा था
वह चिमटा
जो मेले से लाया था
हामिद
दादी अमीना के लिए।

दो
बर्फ़बारी हो रही थी
बाजार में
बमबारी से भी बुरी
घर में
मद्धम आँच पर
सिंक रही थी ज़िन्दगी
राहत पाने के लिए थी
सिर्फ गर्म-ताज़ा रोटियों की गंध

इस स्तम्भ के अन्तर्गत हम देश के विभिन्न हिस्सों में क्रान्तिकारी छात्र-युवा मोर्चे पर सक्रिय कार्यकर्ताओं, प्रगतिशील युवा संस्कृतिकर्मियों और नारी मोर्चे की युवा सिपाहियों के अनुभवों और विविध समसामयिक ज्वलन्त प्रश्नों पर उनके विचारों को नियमित रूप से प्रकाशित करेंगे।

यह स्तम्भ क्रान्तिकारी परिवर्तन के विभिन्न मोर्चों पर सक्रिय युवाओं के आपसी विचार-विमर्श का, अनुभवों के आदान-प्रदान का तथा चिन्ताओं-चुनौतियों की साझेदारी का मंच है। उनके विचारों की निर्बन्ध अभिव्यक्ति सबसे जरूरी है जो ठोस व्यवहार में लगे हैं। सही विचार का वास्तविक स्रोत व्यवहार है–सामाजिक कामों में भागीदारी है, और विचार की एकमात्र सार्थकता यही है कि वह हमारे व्यवहार का मार्गदर्शक बने। जो युवा क्रान्तिकारी बदलाव के सिर्फ सपने नहीं देखते बल्कि उसकी ठोस परियोजना को क्रियान्वित करने की कोशिश करते हैं, यह स्तम्भ उन्हीं का मंत्रणा-कक्ष है, उन्हीं की चौपाल है। इसमें भागीदारी के लिए हम सभी क्रान्तिकारी छात्र-युवा संगठनकर्ताओं-कार्यकर्ताओं को आमंत्रित करते हैं।

-सम्पादक

उत्तर प्रदेश में छात्रसंघ का लॉलीपॉप

–शालिनी, इलाहाबाद

आगामी लोकसभा चुनावों के मद्देनजर केन्द्र और सभी राज्यों की सरकारों ने धुँआधार लोकलुभावन घोषणाओं का सिलसिला जारी कर रखा है। शोषकों-लुटेरों के चुनावी चाकरों के घड़ियाली आँसुओं से बाढ़ आने-आने को है। भाँति-भाँति के दलबदलू गिरगिटों और गिरोह सरदारों को मिलाकर बनी मुलायम सिंह की सरकार भी वायदों-घोषणाओं की इस होड़ में किसी से पीछे नहीं है।

कुर्सी पर बैठते ही मुलायम सिंह ने प्रदेश के छात्रों को छात्रसंघ चुनाव का अधिकार सौंपने का ऐलान किया। ऐसा इसलिए नहीं कि डाला और चुर्क में कभी मजदूरों पर गोली चलवा चुके और देश के शीर्षस्थ पूँजीपतियों की उपस्थिति में शपथ ग्रहण करने वाले मुलायम जनतांत्रिक मूल्यों और युवा हितों के बहुत बड़े अलमबरदार हैं। असल बात यह है कि 18 से 30 वर्ष के युवाओं का वोट बैंक आज सबसे बड़ा है और चुनावी चालों के चतुर खिलाड़ी मुलायम की गिद्धदृष्टि इस वोट बैंक पर है। दूसरी बात, सभी चुनावी पूँजीवादी दलपतियों की तरह मुलायम भी यह भलीभाँति समझते हैं कि बेरोजगार छात्रों-युवाओं के बीच से न केवल जुनूनी चुनाव प्रचारकों की भाड़े की फौज आसानी से तैयार होती है, बल्कि बुर्जुआ राजनीति के वारिस भी वहीं से आते हैं। संघ परिवार के पास शाखाओं, शिशु मन्दिरों और अ.भा.वि.प. के रूप में उत्तराधिकारियों की तैयारी का अपना नेटवर्क है, इसलिए भाजपा सरकारों ने छात्र संघों को भंग करने का निर्णय लिया था। लेकिन सपा, कांग्रेस, और चुनावी वामपंथियों के लिए कैम्पसों की राजनीति कार्यकर्ता-भरती और वारिस-तैयारी का सबसे उचित साधन है। सभी चुनावी मदारी जानते हैं कि छात्र राजनीति को यदि एम.एल.ए.-एम.पी. बनने का प्रशिक्षण-केन्द्र नहीं बनाया जायेगा तो वह क्रान्तिकारी राजनीति का भरती केन्द्र और प्रशिक्षण केन्द्र बन जायेगा। हुकूमत चलाने वाले भी इस बात को जानते हैं कि निजीकरण-उदारीकरण कुचक्र से बढ़ती बेरोजगारी के चलते युवाओं में किस कदर गुस्सा सुलग रहा है। इसलिए उन्हें कुछ-कुछ लॉलीपॉप थम्हाने की कोशिशें तो होनी ही थीं।

सत्ताधारी यह भी भलीभाँति समझते हैं कि फिलहाल क्रान्तिकारी छात्र राजनीति के बिखराव और ठहराव के चलते, उनके सामने कैम्पसों में कोई चुनौती नहीं हैं और छात्रसंघ चुनावों का वे अभी अपने हक में भरपूर इस्तेमाल कर सकते हैं। पिछले दिनों के अनुभव ने भी यही सिद्ध किया है।

पिछले वर्ष के आखिरी महीनों में छात्र संघ चुनाव उत्तर प्रदेश के सभी विश्वविद्यालयों और डिग्री कालेजों में कराये गये। लेकिन इतने सालों बाद भी चुनाव-बहाली का उत्साह केवल भूतपूर्व छात्र नेताओं और नये उम्मीदवारों के चेहरों पर ही दिखाई दिया। आम छात्रों-छात्राओं में इसको लेकर कोई उत्साह नहीं था। इन उम्मीदवारों में शामिल किसी भी पार्टी का छात्र संगठन हो, इससे कोई फर्क नहीं रह गया है। आम छात्र अब यह जान चुके हैं कि चाहे कोई भी पार्टी का उम्मीदवार जीते, इससे कोई फर्क नहीं पड़ेगा। जिन उद्देश्यों को लेकर छात्र संघ का निर्माण किया गया था, उसे सही रूप में लागू करने की क्षमता आज किसी में भी नहीं रहा है। सभी छात्र नेताओं के लिए यह एक 'ट्रेनिंग सेण्टर' बन गया है जिसके लिए यह अनुभव भविष्य में एम.पी.-एम.एल.ए. का चुनाव लड़ने में काम आएगा।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में छात्रसंघ का चुनाव 1 अक्टूबर को हुआ। इसमें भाग ले रहे तथाकथित वामपंथी शिविर के कुछ संगठनों ने भी अपने-अपने उम्मीदवार खड़े किये थे, लेकिन उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। इसका मुख्य कारण यह लगता है कि आज छात्रों-नौजवानों के बीच ये संगठन अपना विश्वास पूरी तरह से खो चुके हैं, क्योंकि इन संगठनों के साथ जुड़े युवा भी आम छात्रों की तरह आई.ए.एस./पी.सी.एस. की तैयारी में लगे हुए हैं। इनका सपना भी भविष्य में कल-पुर्जा बनकर इसी व्यवस्था की सेवा करना है। ऐसे सपने संजोने वाले इन संगठनों के तथाकथित हिरावल हमारे युवा वर्ग के प्रेरणा-स्रोत नहीं बन सकते, क्योंकि इनसे प्रेरणा लेना समाज परिवर्तन के महान उद्देश्यों

के साथ बड़ी गद्दारी करना होगा। ऐसे लोग स्वयं जीवन में कहीं-न-कहीं समझौता करेंगे और युवा-वर्ग को भी अन्धेरे की कालकोठरी में कैद कर देंगे, जहाँ से बाहर निकालना और फिर से विश्वास जीतना बहुत कठिन काम होगा।

अब नौजवानों को नयी उम्मीदों का, नये तूफ़ानों का इन्तज़ार है। आज जो भी ग्रुप इससे अलग नये-नये प्रयोग करने का संकल्प लेगा, वह कुछ समय तक अकेले पड़ कर भी साहस के साथ काम करेगा। तभी वह युवा-वर्ग का विश्वास जीत सकता है तथा भविष्य में छात्र-नौजवान उसके साथ आकर खड़े होंगे।

यह देश है जागीर जिनके बाप की शिक्षा भी है उन्हीं की, न हमारी न आपकी!

–गीतिका, इलाहाबाद

उत्तरी बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश में बहुत दिनों से एक जनकवि का एक भोजपुरी लोकगीत काफी लोकप्रिय रहा है, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

...उनके लरिका त पढ़ेला बिलायत जाइके
हमरे लरिका के जुरे ना किताब भाईजी
रउरा सासन के बाटे ना जवाब भाईजी
रउरा कुरुसी से झरेला गुलाब भाईजी...

शिक्षा को अमीरजादों का विशेषाधिकार बनाने का जो सिलसिला राजीव गाँधी की 'नयी शिक्षा नीति' के साथ 1986 में शुरू हुआ था, वह अब बहुत आगे जा चुका है। केन्द्र की भाजपा सरकार हो या राज्यों की किसी भी पार्टी की सरकार, इस मामले में कोई किसी से पीछे नहीं। आखिर ऐसा हो भी क्यों न! सभी सरकारें तो पूँजीपतियों की ही मैनेजिंग कमेटियाँ हैं। अम्बानी-बिड़ला कमेटी ने केन्द्र सरकार के सामने उच्च शिक्षा के पूर्ण बाजारीकरण की सिफारिशें पेश कीं और अब वही अम्बानी अन्य थैलीशाहों के साथ "समाजवादी" मुलायम को उत्तर प्रदेश के "विकास" में खास मदद देने वालों में शामिल है।

फीस वृद्धि और अनुदान-समाप्ति की जो घोषणाएँ पहले चोर दरवाजे से लागू की जाती थीं, अब वे डंके की चोट पर की जा रही हैं।

अभी कुछ ही महीनों पहले इलाहाबाद विश्वविद्यालय, लखनऊ विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ व अन्य विश्वविद्यालयों के कुलपतियों के साथ हुई बैठक में राज्यपाल विष्णुकान्त शास्त्री ने तो बाकायदा घोषणा ही कर दी कि विश्वविद्यालय अपने संसाधन खुद जुटाएँ–"विश्वविद्यालयों के खर्च से मुक्ति चाहता है शासन।" बैठक में यह स्पष्ट कर दिया गया कि वर्ष 2007 के बाद सरकारी मदद पूरी तरह से रोक दी जानी है। तब तक लगातार प्रति वर्ष अनुदान में 10 प्रतिशत की कटौती की जाएगी। कटौती में भी शर्त है। अनुदान 16 करोड़ रुपये पर फ्रीज है सो बढ़ कर चाहे जो मिले, इस सीमा पर आने में कटौती होगी ही। इसकी प्रतिपूर्ति विश्वविद्यालय अपने संसाधनों से करेगा।

जाहिरा तौर पर इस लक्ष्य को साधने के लिए छात्रों पर ही शिकंजा कसा जाएगा। शासन ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय को फीस में हर साल 20 फीसदी बढ़ोत्तरी की सलाह दी है ताकि 2007 तक शासन को अनुदान की जिम्मेदारी से छुट्टी मिल जाए।

यानी आज की व्यवस्था में बिकाऊ माल बना दी गई शिक्षा पर अब सिर्फ उन्हीं का अधिकार होगा जो धनी हैं। गरीब माँ-बाप भी अपने सपनों को धूमिल होता हुआ देख चुप हैं, लेकिन युवा साथियों आप कब तक चुप रहेंगे? शिक्षा हमारा बुनियादी अधिकार है। आज एक-एक करके हमारे सभी अधिकार छीने जा रहे हैं और जो कुछ भी अधिकार बचे हैं वे मुट्ठी में रेत के समान हैं।

आज जरूरत है फिर से अपने अधिकारों के लिए संघर्ष की शुरुआत करने की। अपने साररे अधिकार हासिल करना आज के समय में भले ही ख्वाब लगे पर इतिहास साक्षी है कि बार-बारयह सच में बदला है। विद्रोह अगर लक्ष्यहीन है तभी तक वह भटकता है, सोद्देश्य लड़ाई भले ही कठिन और लम्बी हो पर उसकी जीत निश्चित है। हमारे समय में न सही, आगे आने वाले समय में छात्र अपनी-अपनी योग्यता के बल पर, न कि पैसे के बल पर, उपयुक्त शिक्षा प्राप्त कर सकें इसलिए आज यह लड़ाई जरूरी है।

लड़ो पढ़ाई करने को।
पढ़ो समाज बदलने को।।

संघ परिवार की असली मंशा को समझना होगा!

–अरुण मौर्य, इलाहाबाद.

संघ परिवार और भाजपा 'स्वदेशी' और राष्ट्रीय गौरव की दुहाई देते हुए आखिर कैसा राष्ट्र-निर्माण करना चाहते हैं? शताब्दियों-सहस्त्राब्दियों पुरानी "इतिहास की गलतियों" को "राष्ट्रीय गौरव" के नाम पर सुधारने चले हैं और आज राष्ट्रीय सम्मान को गिरवी रखकर साम्राज्यवादियों के तलवे चाट रहे हैं। देश को बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का खुला चरागाह बना दिया गया है। पूँजीवाद का जो मॉडल ये लोग लागू कर रहे हैं, वह भी तो ऐतिहासिक रूप से पश्चिम में ही पैदा हुआ। वह कोई भारतीय चीज नहीं है।

संघ सम्प्रदाय के लिए भारतीयता हिन्दुत्व का पर्याय है। पन्द्रह करोड़ मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यकों को इनके सपनों के भारत में सिर्फ दोयम दर्जे की नागरिकता ही हो सकती है। मध्यकाल के मुस्लिम हमलावर शासकों के हाथों हिन्दुओं के तथाकथित अपमान का बदला लेने के नाम पर आम मुसलमानों को निशाना बनाया जा रहा है और आज देश को गिरवी रखा जा रहा है! इससे बड़ा अपमान भला और क्या हो सकता है!

आखिर भाजपाई इस बात का जवाब क्यों नहीं देते कि अंग्रेजों की औपनिवेशिक गुलामी के विरुद्ध लम्बे संघर्ष में इनकी कोई भूमिका क्यों नहीं थी? संघ के संस्थापक हेडगेवार के प्रतिनिधि मुंजे ने मुसोलिनी से मुलाकात की और वही संघ का वैचारिक आधार बना। यह

एक ऐतिहासिक तथ्य है। संघियों के पास क्या जवाब है? संघ की विचारधारा रत्ती भर भी

स्वदेशी नहीं है। वह फासिस्ट इटली से आयातित विचार है जिसपर भारतीयता का फरेबी मुलम्मा चढ़ा दिया गया है। देश को बाँटने की साजिश में ये ताकतें अंग्रेज उपनिवेशवादियों और मुस्लिम लीग के साथ बराबर की हिस्सेदार थीं और आज भी यदि इनका बस चले तो मन्दिर-मस्जिद के नाम पर ये पूरे देश को खून का दलदल बना देंगे और खण्ड-खण्ड में बाँट देंगे।

दरअसल, हिन्दुत्ववादी कट्टरपंथ साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध जन एकजुटता को तोड़ने की एक शातिर साजिश है। सोचने की बात है कि विनाशकारी पूँजीवादी नीतियाँ जब मेहनतकशों की हड्डियों का पाउडर बनाकर बाजार में बेंच रही हैं, जब प्रतिवर्ष करोड़ों लोग अपनी जगह-जमीन और रोजी से बेदखल होकर रसातल का जीवन बिता रहे हैं, जब बीस करोड़ बेरोजगार युवा दर-बदर होकर सड़कों पर भटक रहे हैं, उसी समय मूल मुद्दे से ध्यान हटाकर लोगों को जाति-धरम पर लड़ाने की कोशिशें सबसे अधिक क्यों हो रही हैं?

भगत सिंह ने साम्प्रदायिकता के जहर की काफी पहले ही सही पहचान की ली थी और इस बात पर बल दिया था कि इससे निजात पाने के लिए लोगों की वर्ग-चेतना को जागृत करना होगा और मजबूत बनाना होगा। क्रान्तिकारी छात्रा-युवा राजनीति का भी आज यही दायित्व है। इसकी अनदेखी घातक होगी।

पूँजीवाद के हाथ में उन्नत तकनीक यानी.... बन्दर के हाथ में उस्तरा

- नमिता, इलाहाबाद

आज विज्ञान काफी तरक्की कर रहा है। नई उन्नत तकनीकें लगातार ईजाद की जा रही हैं। लेकिन इन सब पर एकाधिकार पूँजीवाद का है। और प्रचार तंत्र में उन्नत सूचना तकनीक का इस्तेमाल पूँजीवाद घोर विज्ञान-विरोधी और दकियानूसी विचारों के प्रचार के लिए कर रहा है। प्रौद्योगिक विकास का इस्तेमाल एक तरफ तो मुनाफा निचोड़ने के लिए होता है तो दूसरी तरफ आम लोगों में अंधविश्वास को फैलाने के लिए।

ऐसा नहीं कि टेलीविजन और उन्नत सूचना तकनीक अपने आप में कोई शैतानी चीजें हों। उल्टे इसका इस्तेमाल तो भारत जैसे देशों में बहुत ही अच्छा हो सकता है। इसके जरिए घर-घर तक विज्ञान की बातें पहुँचायी जा सकती हैं, दुनिया के श्रेष्ठतम साहित्यिक रचनाओं से लोगों को अवगत कराया जा सकता है, और तर्कणा को विकसित करने वाले कार्यक्रम प्रसारित किये जा सकते हैं। लेकिन सामन्तवाद से संघर्ष में भौतिकवाद का झण्डा बुलन्द करने वाले, तर्कणा को हथियार बनाने वाले और धार्मिक अंधविश्वासों की धज्जियाँ उड़ाने वाले पूँजीपति वर्ग ने अब अंधविश्वासों, टोना-टोटका, तंत्र-मंत्र, बाबाओं आदि की शरण ले ली है। यह उनके हित में है कि जनता इन दकियानूसी चीजों में विश्वास करे।

ये विचार फैलाने का काम पहले फिल्म और नाटक कर रहे थे। लेकिन आज इसका नेतृत्व घर-घर में पहुँच रखने वाले बुद्धू बक्से ने अपने हाथ में ले लिया है। हर रोज जादू-टोना, तंत्र-मंत्र, प्रेतात्मा, पुनर्जन्म, आदि पर धारावाहिक आते हैं। एच.बी.ओ. और स्टार मूवीज जैसे अंग्रेजी फिल्मों के चैनलों तक पर नियमित रूप से हर रोज एक या दो फिल्म अवश्य आती हैं जो भूत-प्रेत, परामनोविज्ञान, जादू-टोना आदि पर आधारित होती हैं।

जितने भी धारावाहिक चल रहे हैं उनमें कार्पोरेट जगत, नौकरशाह घरों की महिलाओं के जीवन पर आधारित धारावाहिकों पर जादू-टोने और अंधविश्वासों वाले धारावाहिकों की कटेगरी हावी है। और पहली कटेगरी के धारावाहिकों में भी परिवार के एक बाबा होते हैं जिनकी सारी भविष्यवाणियाँ सत्य सिद्ध होती हैं।

जब कोई शिक्षित व्यक्ति इन धारावाहिकों को देखता है तो समझता है कि ये तो वह यूँ ही मनोरंजन के लिए देख रहा है। लेकिन सांस्कृतिक माध्यमों का प्रभाव इतना गहरा होता है कि अवचेतन मस्तिष्क के धरातल पर वह अनजाने ही इन धारावाहिकों के तर्क को भी ग्रहण करता जाता है और धीरे-धीरे उसकी तर्कणा क्षरित होती जाती है। जब पढ़े-लिखे व्यक्तियों का यह हाल होता है तो आम मध्य वर्ग की गृहणियों पर इन धारावाहिकों का क्या प्रभाव पड़ता होगा, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

इसका प्रभाव आम जनों की दुर्वस्था के लिए जिम्मेदार सामाजिक शक्तियों की शिनाख्त से रोकता है। यह जनता की वर्गीय चेतना को तो कुन्द करता ही है, साथ ही साथ उनमें फासिस्ट शक्तियों का सामाजिक आधार तैयार करने में सहायता भी करता है। इस कुसंस्कृति के प्रभाव से निपटना सिर्फ सांस्कृतिक आन्दोलन का ही नहीं बल्कि छात्रा-युवा आन्दोलन का भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

हत्या या आत्महत्या

- अमित शर्मा, दिल्ली

-14 अप्रैल, साहिबाबाद। गरीबी से तंग आकर सलीम ने अपनी पत्नी और चार बच्चों के साथ आत्महत्या की।

-16 अप्रैल, कविनगर। गरीबी और बदहाली के चलते सुनीता ने अपने तीन बच्चों के साथ आत्महत्या की।

-18 अप्रैल, लखनऊ। पूनम देवी ने गरीबी से तंग आकर अपने तीन बेटों के साथ जहर पीकर आत्महत्या कर ली।

-23 अप्रैल, कानफर। रामविशाल ने अपनी पत्नी और चार बच्चों को मारकर आत्महत्या की।

-27 अप्रैल, गाजियाबाद। महेंद्र ने गरीबी और बेरोजगारी से तंग आकर अपनी पत्नी और चार बच्चों समेत आत्महत्या की।

ये सिर्फ चन्द उदाहरण हैं। इस तरह की खबरों की सूची बनाना इस पत्रिका की सीमा से बाहर है। आत्महत्या कानूनी तौर पर एक गुनाह है। मगर ये आत्महत्याएँ नहीं हैं। ये हत्याएँ हैं जिन्हें हमारा हत्यारा निजाम अंजाम दे रहा है।

मरने वाले अधिकांश परिवारों के कमाऊ सदस्य बेरोजगार हो चुके थे। जब कमाते थे तब भी दिहाड़ी पर 50-60 रुपये कमा पा रहे थे। लिहाजा बच्चों का पढ़ना तो दूर की बात, खाना मिल पाना भी मुहाल था। मतलब यह कि इन लोगों की न्यूनतम जरूरतें भी पूरी नहीं हो पा रही थीं।

महेंद्र ने आत्महत्या करने से पहले 6 पेज का सुसाइड-नोट लिखा था। उसने इसमें लिखा था कि उसके पास अब जीने

हत्या या आत्महत्या

का कोई रास्ता नहीं बचा है और यह दुनिया बड़ी बेरहम है जहाँ गरीबों के लिए कोई जगह नहीं है। "मैं अपनी पत्नी और बच्चों से बहुत प्यार करता हूँ और यह नहीं चाहता कि मेरे मरने के बाद उनकी बेकद्री हो, इसलिए मैं अपनी पत्नी और बच्चों को भी मार रहा हूँ। इस महापाप के लिए मेरे मरने के बाद मेरे शरीर के इतने टुकड़े किए जाएँ कि भविष्य में कोई भी ऐसा कदम न उठाये।"

महेंद्र ने आत्महत्या नहीं की थी। इस व्यवस्था ने उसे और उसके परिवार को मारा, जिसमें गोदामों में अनाज सड़ता या चूहों का आहार बनता रहता है मगर भूखे लोगों तक नहीं पहुँच पाता। प्राकृतिक संसाधनों, सम्पदा, और मनुष्य के बीच खड़ी मुनाफे की दीवार भुखमरी, गरीबी, कुपोषण और बेरोजगारी को जन्म दे रही है। दरअसल, इस व्यवस्था में हर कार्रवाई का आधार मुनाफा और फायदा है, भले ही यह चिताओं पर रोटी सेंककर हासिल किया जाय।

ज्यादा विश्लेषण की जरूरत नहीं है। सच्चाइयाँ बेनकाब होकर हमारे-आपके सामने खड़ी हैं। समय इस व्यवस्था को बदल डालने की माँग कर रहा है और समाज बड़ी उम्मीदों के साथ युवाओं पर नजर गड़ाए हुए है। आखिर किस चीज का इन्तज़ार है हमें और कब तक!

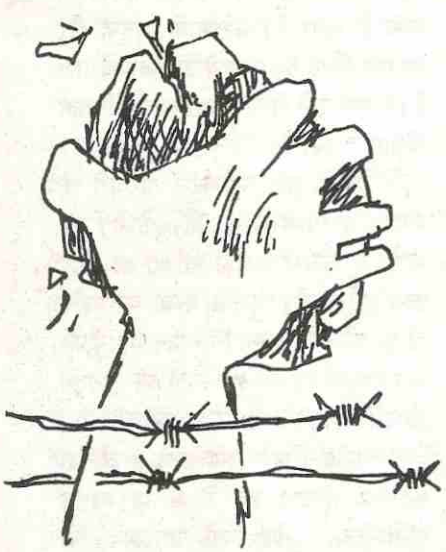

इस हिमखण्ड को तोड़ना होगा

• कपिल स्वामी, दिल्ली

आज से पहले इतना ठण्डा माहौल शायद ही कभी आया हो। हमारे चारों तरफ एक गहरी निस्तब्धता का वातावरण व्याप्त है। लोगों ने चुप्पी को व्यवहार की शक्ल दे दी है। महानगर की आपाधपी भरी जिन्दगी मे अकेले और अकले होत जाने का अहसास आम आदमी के मन में घर कर गया है। गलत को गलत कहने का साहस लगातार कम होता जा रहा है। लोग गलत चीजों के प्रति एक निस्पृह स्वीकारोक्ति वाला भाव रखने लगे हैं। हाँ कभी-कभी जब समाज में कछ ज्यदा गलत होने लगता है तो कुछ अस्फुट शब्दों में लोग अपने मन की भड़ांस निकालकर चुप हो जाते हैं।

आज के दौर में जिस साहस के साथ गलत को गलत कहने की हिम्मत होनी चाहिए, यदा कदा ही कोई आदमी दिखा पाता है। हम अपने चारो तरफ नजर डालें तो दिल्ली जैसे शहर में रोजमर्रा की जिन्दगी में काफी कुछ गलत होता है। लेकिन हममें से शायद ही कोई गलत के खिलाफ आवाज उठाता हो। हम सबकी जिन्दगी की कुछ छोटी-छोटी बातं, जिनसे ज्यादा कुछ फर्क नहीं पड़ता लेनि इससे हमारी गलत के खिलाफ आवाज ना उठाने की आदत का तो पता चल ही जाता है। उदाहरण के लिए अगर हमें डी.टी.सी. से काम पर पहुँचना हो तो समय पर पहुँचना राम-भरोसे ही है क्योंकि टाइम-टेबल का पता डी.टी.सी. कर्मियों को ही नहीं होता। पता भी हो तो चाय पीकर टहलते-टहलते ड्राइवर और कंडक्टर आत हैं, और जो लोग अभी तक इनकी मुखर आलोचना कर रहे होते हैं, अब शान्त हो जाते हैं। लेकिन अगर ब्लूलाइन बस से जाना हो तब भी मुश्किलों से बच नहीं सकते। बस का कंडक्टर बस को पीटते और गला फाड़ते हुए बस को बार-बार रुकवा देता है। अब चाहे कोई यात्री कितना भी कहे, चिल्लाए या बरसे पर बस अपनी रफ़्तार से ही चलती है। तकलीफ सबको होती है लेकिन बोलने वाले का साथ प्रायः कोई नहीं देता है। बोलने वाला भी खीजकर कुछ देर में चुप हो जाता है। इसी तरह जब हम बिजली या टेलीफोन का बिल जमा करवाने की लाइन मं लगे होते हैं और कोई शातिर आदमी बीच लाइन में घुसने की कोशिश करता है तो कुछ देर गुनगुनाहट पैदा होती है लेकिन कोई भी उसका कालर पकड़कर उसको लाइन से बाहर करने का साहस नहीं दिखा पाता है। यहाँ सवाल शारीरिक ताकत का नहीं, बल्कि गलत के प्रति सहज प्रतिरोध की क्षमता का है जो कि इस दौर में लगातार क्षीण होती जा रही है। इसी तरह सरकारी अस्पताल में हम ये मानकर चलते हैं कि डाक्टर और अस्पतालकर्मियों के जानने वाले लोग, लाइन में लगे लोगों से पहले इलाज के हकदार होते हैं। इस गलत चीज को हम सहज ढंग से डाक्टर और अस्पतालकर्मियों का अधिकार मान लेते हैं। बल्कि खुद भी किसी डाक्टर या अस्पतालकर्मी से जान-पहचान निकालने की कोशिश करते हैं। कहने का मतलब है कि गलत चीज इतनी सहज-स्वाभाविक लगती है कि हम उसे सही मानने लगते हैं।

इसी तरह के उदाहरण हम युवाओं और छात्रों की जिन्दगी से भी ले सकते हैं। युवा और छात्रों में यद्यपि प्रतिरोध की क्षमता अपेक्षाकृत ज्यादा दिखायी पड़ती है लेकिन वो भी इन गड़बड़ियों को कमोबेश स्वीकार कर लेते हैं। छात्रों को महँगी होते जाने के बावजूद शिक्षा नहीं मिल पा रही है। पिछले दिनों दिल्ली विश्वविद्यालय के कुछ कालेजों में वोकेशनल कोर्सो की फीस में 30-40 की भारी वृि(कर दी गयी। छात्रा-संगठनों से तो उम्मीद करना ही व्यर्थ था। इसलिए जब छात्रों ने व्यक्तिगत स्तर पर प्रतिरोध किया तो कालेज प्रशासन को कुछफर्क ना पड़ना था ना पड़ा। यहाँ छात्रों को भी अपनी सामूहिकता की शक्ति में विश्वास की कमी नजर आयी। ये तो मात्रा एक उदाहरण हैं। छात्रों के सामने अनेकों समस्याएँ मुँह बाए खड़ी हैं। उनकी कक्षाएँ समय पर और पूरी नहीं लगती है। उनको अच्छे अंक पाने के लिए अपने अध्यापक

की जी हजूरी करनी पड़ती है। छात्र-संगठन दादागिरी वाले चौधरीछाप नेताओं की नर्सरी बन गये हैं। चुनाव के समय तो ये नेता हर छात्रा से हाथ मिलाकर दिल जीत लेता है। लेकिन बाद में कोई छात्र अगर समस्या लेकर पहुँच गया तो उसे टालने, डराने और धमकाने तक का काम यही छात्र नेता करते हैं। और बेचारे छात्र इसे अपनी नियति मानकर अगले चुनावों में फिर किसी ऐसे ही नेता को ग्लैमर और बाहुबल से प्रभावित हो वोट डाल आते हैं। आजकल के डूसू चुनाव इतने ग्लैमरपूर्ण हो गए हैं कि आम छात्र तो इसकी चकाचौंध से भौचक रह जाते हैं। डूसू के चुने हुए छात्र भी हमारे देश के नेताओं की तरह अपने आसपास एक आभामंडल बना कर रखते हैं नतीजतन छात्र की हिम्मत ही नहीं होती कि वो उनसे कोई सवाल कर सके। इसी तरह आजकल डूसू में सुन्दर लड़कियों को चुनाव में उतारने की कोशिश इसी मकसद से की जा रही है कि छात्र अपनी समस्याओं के मुद्दे उठा ही ना सकें। अब तो छात्रों में ये बात घर कर गयी है कि निजीकरण या फीस-वृद्धि जैसी समस्याएँ तो हल ही नहीं हो सकती। उनमें समस्याओं के प्रति एक निरपेक्ष स्वीकारोक्ति वाला भाव पैदा हो गया है। मुझे कुछ छात्रों से बातचीत करने पर एक मजेदार तथ्य का पता चला कि अब डूसू का मुख्य काम एक शानदार संगीत शो आयोजित करवाना रह गया है। बात फिर वही गलत को गलत कहने की प्रतिरोध क्षमता की है। हालाँकि कुछ साल पहले तक जे.एन.यू. चुनावों में छात्रों की जागरुकता और सक्रियता कुछ नजर आती थी जब छात्र सीधी बातचीत और सवाल जवाब द्वारा नेताओं से उनके पिछले रिकार्ड और आगामी कार्यक्रम पूछते थे। लेकिन वहाँ पर भी अब ये परम्परा मात्र एक औपचारिकता भर रह गयी है।

शिक्षा पूरी करने के बाद शुरू होती है नौकरी पाने की कठिनतम जद्दोजहद। नौकरी पाने के लिए या तो किसी उच्चपद पर बैठे रिश्तेदार को पटाना पड़ता है या फिर बाप को कर्ज लेकर रिश्वत द्वारा अपने योग्य बेटे की नौकरी का जुगाड़ करना पड़ता है। युवा अपने भविष्य से सीधे जुड़ी समस्याओं जैसे शिक्षा और रोजगार के बुनियादी सवालों पर भी वे प्रतिरोध दर्ज करवाने की कार्यवाहियों-आंदोलनों में शिरकत करने से कतराते हैं। उनका तर्क भी भी पूरे समाज की मानसिकता दर्शाती वाला होता है कि हमारे ये सब करने से कुछ नही बदलने वाला। उनका भाव उस कछुए वाला होता है जो कोई संकट आने पर अपने खोल में छुप जाता है। वो समस्या का सामना अपने व्यक्तिगत स्तर पर करते हैं। अर्थ है कि हमको अपनी सामूहिकता की शक्ति पर भरोसा नहीं रह गया है। हम असफल विद्रोही आवाजों को दिमाग में रखकर आवाज बुलन्द करने की नैतिक जिम्मेदारी से ही पीछे हट जाते हैं। छात्र-युवाओं समेत पूरा समाज कुंठा के भयावह दौर से गुजर रहा है। हमें साफ दिखाई दे रहा है कि सब कुछ गड़बड़ हो रहा है लेकिन फिर भी हम मन ही मन कुछ खदबदाकर रह जाते हैं।

इसी तरह स्त्रियों और लड़कियों को देखें तो बढ़ती शिक्षा और कानून प्रदत्त अधिकारों के बावजूद स्थितियाँ बहुत ज्यादा बदली नहीं है। पश्चिमी अपसंस्कृति के बढ़ते हमलों ने आज के समाज में स्त्री का उपभोग्य वस्तु में बदल दिया है। उन्हें हर जगह पुरुषों की निगाहें बेधती रहती हैं। उन्हें बसों में आते-जाते असम्मानजनक स्थितियों का सामना करना पड़ता है, और जो लड़की इसका खुलकर विरोध करती है उसे बददिमाग और बदमिजाज की उपाधि दे दी जाती हैं उससे अपेक्षा की जाती है कि तब तक विरोध ना करें जब तक हद न हो यानी चुप्पी बनाए रखी जाए। उन्हें आफिसों में भद्दे मजाक सुनने पड़ते हैं, कालेजों में छींटाकशी और छेड़छाड़ तक सहनी पड़ती है। उन्हें बचपन से ही ऐसी परिस्थितियों से बचकर निकलने की सलाह दी जाती है। उन्हें यह नहीं सिखाया जाता कि ऐसी परिस्थितियों का डटकर सामना कैसे किया जाए। मौखिक प्रतिरोध के अलावा जरूरत पड़ने पर शारीरिक प्रतिरोध करने की सीख शायद ही दी जाती हो। उन्हें घर में पिता और भाई के आगे जुबान ना चलाने की शिक्षा दी जाती है। उन्हें हर गलत चीज से आँख फेरने की सलाह दी जाती है। यही दब्बूपना उनके पूरे व्यक्तित्व को कुंठित कर डालता है। घर और परिचितों की गलत चीजों को सहते-सहते उनकी प्रतिरोध करने की क्षमता खत्म हो जाती है। नतीजतन बाहर और अपरिचितों की गलत बातों को चुनौती देने का साहस बहुत कम लड़कियाँ कर पाती हैं। शादी के बाद भी पति और सम्बन्धियों की सारी गलत-सही बातों को चुपचाप स्वीकार कर लेने वाली लड़की अच्छी मानी जाती है। गलत को गलत ना कहने को 'औरत की मर्यादा' की संज्ञा दे दी जाती है।

महज चंद उदाहारण हैं हमारे आज के समाज की खत्म होती प्रतिरोध करने की क्षमता का। इस तरह की छोटी-छोटी घटनाएँ ही व्यापक स्तर पर पूरे समज की विद्रोही आवाज को खत्म कर देती है। चूँकि हम छोटी-छोटी गलत चीजों को नजरंदाज कर देते हैं इसीलिए बड़ी-बड़ी गलत चीजों के बारे में भी हम साहसी ढंग से सोच नहीं पाते हैं। समस्या का मूल यही मानसिकता है कि सिर्फ हमारे करने से क्या होगा? इस मानसिकता, इस सिहरा देने वाले ठण्डेपन को आज खत्म करने की जरूरत सबसे ज्यादा है। इस ठण्डेपन से उपजी कायरता को ललकार कर जनता का, उसकी सामूहिक शक्ति में भरोसा दोबारा पैदा करने का काम आज की सबसे बड़ी चुनौती है। आज जनता लोकतंत्र के झुनझुने से खेल-खेलकर बोर हो चुकी है। उनकी समस्याओं को सुलझाने की कोई सार्थक कोशिश ये नेता रूपी अपराधी और अपराधी रूपी नेता कर ही नहीं सकते हैं। पूरी सरकारी व्यवस्था चंद देशी-विदेशी पैसेवालों के मैनेजर के रूप में काम कर रही है। पूरी व्यवस्था, शिक्षा, मीडिया और हमारे तथाकथित बुद्धिजीवी जनता की विद्रोही चेतना को दबाने का काम कर रहे हैं। लोगों के छोटे-मोटे आंदोलनों को कुचल तक दिया जाता है। ऐसे मुश्किल हालात में लोगों को गलत को गलत कहने के लिए साहस के साथ खड़ा होना सीखना ही पड़ेगा, लोगों को गलत के खिलाफ सामूहिक आवाज उठाने की पहल करनी ही होगी, लोगों को अपनी यानी जनता की ताति पर भरोसा करना ही पड़ेगा, सीधी बात ये कि–**हमें इस चुप्पी रूपी हिमखण्ड को तोड़ना ही होगा।**

(पृष्ठ 8 का शेष)

उम्मीद महज एक भावना नहीं है

अन्तरविरोध की गति मद्धम करने के लिए राजकीय इजारेदारी का इस्तेमाल किया था। लेकिन शताब्दी के अन्तिम दशकों में बुनियादी पूँजीवादी अन्तरविरोध के तात्कालिक समाधान का यह उपकरण स्वयं ही अन्तरविरोध को उग्र बनाने लगा और अर्थव्यवस्था के ठहराव को बढ़ाने लगा। यह स्थिति एक बार फिर निजी इजारेदारी पूँजीवाद के विस्तार का एक अहम कारण बनी। तथाकथित 'कल्याणकारी' राज्यों का दौर समाप्त हो गया और सब कुछ बाजार की निर्बंध शक्तियों के हवाले कर देने की प्रक्रिया तेज गति से आगे बढ़ी।

अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा गलाकाटू रूप में आज भी जारी है। व्यापार-युद्ध के नये-नये तरीके और रणनीतियाँ विकसित हुई हैं। लेकिन अतीत की क्रान्तियों से सबक लेकर, आज साम्राज्यवादी लुटेरे अपनी-अपनी आर्थिक शक्ति के हिसाब से विश्व स्तर पर निचोड़े गये अधिशेष में अपना-अपना हिस्सा लेन का काम लम्बे समय तक करते रहते हैं, विरोधी के हर संकट का लाभ उठाने के लिए घात लगाये रहते हैं और शक्ति-संतुलन को बदलने के लिए परस्पर-विरोधी गुटों-गठबंधनों में बँधते और फिर टूटते रहते हैं। अन्तरसाम्राज्यवादी अन्तरविरोध दुनिया के विभिन्न कोनों में जारी क्षेत्रीय युद्धों के पीछे बुनियादी या गौण रूप में मौजूद रहते हैं, लेकिन विश्वयुद्ध के रूप में इनके विस्फोट की सम्भावना अब बहुत कम हो गयी है, हालाँकि पूरीतरह समाप्त नहीं हुई है। इसका एक बुनियादी कारण यह भी है कि विश्व बाज़ार के बड़े-से बड़े भाग पर कब्जे और वर्चस्व की लड़ाई आज उपनिवेशों के कब्जे और बँटवारे के रूप में नहीं हो रही है। मुख्यतः अतीत की क्रान्तियों और वर्ग संघर्षों के दबाव के चलते उपनिवेशों, और ज्यादातर नवउपनिवेशों का भी आज अस्तित्व नहीं रह गया है। उपनिवेशवाद और नवउपनिवेशवाद के दौर से दुनिया आगे निकल आई है। सभी देशों के बाज़ारों में सभी साम्राज्यवादियों का प्रवेश, थोड़ी-बहुत बन्दिशों के बावजूद, आज सम्भव है।

आपसी प्रतिस्पर्द्धा के बावजूद पिछड़े देशों की जनता और शासक पूँजीपतियों पर आम सहमति की अपनी नीतियाँ थोपने के लिए साम्राज्यवादी देश आज वक्ती तौर पर एकजुट हैं और विश्व बैंक-आई.एम.एफ.-विश्व व्यापार संगठन जैसी अन्तरराष्ट्रीय एजेंसियाँ शोषण में ऋण एवं अनुदान की ज्यादा से ज्यादा प्रभावी भूमिका बनाकर, पिछड़े देशों के राष्ट्रीय बाज़ारों में प्रवेश को ज्यादा से ज्यादा निर्बंध बनाकर तथा मनमानी व्यापार-शर्तों को थोपने में मददगार बनकर साम्राज्यवादियों की आम सहमति की नीतियों को विश्व स्तर पर लागू करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं।

साम्राज्यवाद के वर्तमान दौर का एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन गौरतलब है। मुनाफे की वृद्धि दर को बढ़ाने के लिए देशी-विदेशी कम्पनियाँ किसी एक ही चीज़ के उत्पादन की पूरी प्रक्रिया को कई देशों में, और एक देश के भीतर कई जगहों पर बिखरा देती है। एक ही संयंत्र पर असेम्बली लाइन पर जो चीज़ बनती थी, अब वह प्रक्रिया कई संयंत्रों में विभाजित कर दी गयी है। इसे बुद्धिजीवी लोगों ने 'ग्लोबल असेम्बली लाइन' की नयी परिघटना का नाम दिया है। जहाँ जिस तरह की सस्ती श्रम-शक्ति मौजूद है, और जहाँ जिस तरह कच्चा माल सस्ता और आसानी से उपलब्ध है, वहाँ-वहाँ अलग-अलग किस्म के वैसे हिस्से बनाये जाते हैं और फिर उन्हें एक अलग संयंत्र में जोड़कर उत्पाद को अंतिम रूप दिया जाता है। जैसे उन्नत देश की कोई कम्पनी किसी एक पिछड़े देश सस्ते कच्चे माल और सस्ती श्रमशक्ति की खरीद से एक फर्जा बनाती है, दूसरे देश में दूसरा फर्जा बनाती है, तीसरे देश में तीसरा और फिर उन्हें जोड़कर किसी चौथे देश में उत्पाद अंतिम तौर पर तैयार होता है और उसे उन देशों के बाज़ारों में बेचने को भेज दिया है जहाँ उसकी माँग हो और खरीदने वाले बेहतर कीमत देने की क्षमता रखते हों। इससे मुनाफे की दर बढ़ाकर अतिलाभ निचोड़ने के साथ ही साम्राज्यवादियों को कई लाभ मिलते हैं। एक तो एक ही कारखाने की चौहद्दी में काम करने वाले मज़दूरों की बहुसंख्या को कई जगह बिखरा देने से उनकी दबाव बनाने की ताकत फिलहाल कम हो गयी है। पिछड़े देशों के मज़दूरों के आने से साम्राज्यवादी देशों के भीतर जो सामाजिक संकट पैदा हो रहा था, उससे भी कुछ हद तक निजात मिल जा रही है और मज़दूरों के अर्जित अधिकारों को छीनने, उनके आन्दोलनों को तोड़ने तथा ज्यादा से ज्यादा काम ठेका मज़दूरों या अस्थायी मज़दूरों से करा लेना अधिक सुगम हो गया है। उत्पादन-प्रक्रिया के इस 'भूमण्डलीकरण' से फिलहाली तौर पर साम्राज्यवादियों को चाहे भले ही लाभ मिल रहा हो और मज़दूर आन्दोलन के समक्ष भले ही कुछ नयी समस्याएँ उत्पन्न हो रही हों, लेकिन उत्पादन का और अधिक ऊँचे धरातल का यह समाजीकरण दूरगामी तौर पर समाजवाद का और अधिक व्यापक वस्तुगत पूर्वाधार तैयार कर रहा है। यह कई देशों के मज़दूरों को एक साथ जोड़ रहा है। क्रान्तिकारी शक्तियों के प्रचार और संघर्षों से अर्जित उन्नत चेतना के आधार पर मज़दूर वर्ग जब इस सच्चाई को समझ जायेगा तो दूरस्थ मज़दूरों के ऐक्यबद्ध संघर्ष पूँजीवादी व्यवस्था को पंगु बना देने का काम अब पूर्वापेक्षा अधिक प्रभावी ढंग से कर सकेंगे।

एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के जो देश पहले उपनिवेश थे, राजनीतिक स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद वहाँ देशी पूँजीपति वर्ग सत्तारूढ़ हुए। उनमें से कुछ ने अपने देश में पूँजीवाद के विकास के लिए साम्राज्यवादी देशों से पूँजी और तकनोलॉजी की मदद पर अधिक बल दिया। वे अधिक साम्राज्यवादी दबाव में रहे और उनकी राजनीतिक आज़ादी भी उसी अनुपात में संकुचित होती गयी। कुछ देशों ने समाजवादी शिविर और अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाकर साम्राज्यवादी मदद की शर्तों के दबाव को कम किया तथा साथ ही राजकीय पूँजीवादी ढाँचा खड़ा करके करों और जनता की बचत आदि के माध्यम से सीधे जनता से धन उगाहकर पूँजी की अपनी जरूरत एक हद तक पूरी की। लेकिन साम्राज्यवाद के एकीकृत विश्व अर्थतंत्र के इस युग में इस रास्ते की एक

सीमा थी और उसे संतृप्त होते देर न लगी। अब पूँजीवादी विकास को आगे ले जाने के लिए, धीरे-धीरे करके अर्थव्यवस्था के दरवाजों को विदेशी पूँजी के लिए पूरी तरह खोल देना और राजकीय इजारेदारियों को कौड़ियों के मोल देशी और विदेशी पूँजीपतियों को बेच देना इन पिछड़े देशों के पूँजीवाद की अपनी जरूरत थी और बाध्यता भी थी। इन देशों के पूँजीपति वर्ग का कोई भी हिस्सा आज राष्ट्रीय या साम्राज्यवाद-विरोधी नहीं रह गया है। वह स्वेच्छा से साम्राज्यवादियों का 'जूनियर पार्टनर' बन गया है। अधिशेष-विनियोजन में अपना हिस्सा बढ़ाने-बचाने के सवाल पर साम्राज्यवादियों से उसके अन्तरविरोध लगातार तीखे-मद्धम रूपों में चलते रहते हैं, लेकिन अब वह जनता के साथ खड़ा होकर साम्राज्यवाद से नहीं लड़ सकता। वह व्यापक जनता को लूटने में बड़े लुटेरों के साथ भागीदार है। जनता जब उसके विरुद्ध लड़ती है तो साम्राज्यवादी उसके पक्ष में दृढ़ता से खड़े होते हैं और जनता जब साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ती है तो वह साम्राज्यवाद के पक्ष में दृढ़ता से खड़ा होता है।

तीसरी दुनिया के देशों में देशी पूँजीपति वर्गों के शासन के दौरान एक क्रमिक प्रक्रिया में, उद्योगों के अतिरिक्त गाँवों में भी पूँजीवादी विकास हुआ है और विविध रूपों में सामन्ती या प्राकपूँजीवादी अवशेषों की मौजूदगी के बावजूद पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्ध प्रधान बन गये हैं, राष्ट्रीय बाज़ार संघटित हुए हैं और खेती-बाड़ी के क्षेत्र में भी बाज़ार के लिए उत्पादन की प्रवृत्ति प्रधान हो गयी है। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप इन समाजों की वर्गीय संरचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये हैं। कुछ देशों को छोड़कर आज तीसरी दुनिया के अधिकांश देश पिछड़े हुए पूँजीवादी देश बन चुके हैं।

हम मानते हैं कि आज भी दुनिया के पिछड़े देश ही साम्राज्यवाद की कमजोर कड़ी और भावी क्रान्तियों के तूफानों के सम्भावनासम्पन्न केन्द्र हैं, लेकिन इन झंझा केन्द्रों की वर्गीय संरचना में और तदनुसार क्रान्ति की प्रकृति में बुनियादी परिवर्तन आये हैं। यह साम्राज्यवाद का ही युग है, लेकिन यह दौर उपनिवेशवाद और नवउपनिवेशवाद का नहीं बल्कि आर्थिक नवउपनिवेशवाद का है। और ज्यादातर देशों में आज साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियाँ नहीं, बल्कि साम्राज्यवाद व देशी पूँजीवाद विरोधी, नये प्रकार की समाजवादी क्रान्तियाँ होंगी।

अपने ही देश को एक प्रतिनिधि उदाहरण के तौर पर लें। विगत आधी सदी में न केवल उद्योगों और शहरों का अत्यधिक विस्तार हुआ है, बल्कि खेती-बाड़ी का भी मशीनीकारण हुआ है तथा गाँवों में कृषि-आधारित एवं सम्बद्ध उद्योग-धंधों का विराट संजाल विकसित हुआ है। देशी पूँजीपति वर्ग ने अपने उत्पादों को बेचने और सस्ती से सस्ती दर पर श्रम शक्ति को खरीदने के लिए तथा खेती-बाड़ी में मशीनों-उर्वरकों-उन्नत बीजों आदि का नया बाजार तैयार करने के लिए सामन्ती भूमि-सम्बन्धों को तोड़कर काश्तकारों को मालिक बनाने और श्रम को मुक्त करने के काम को एक क्रमिक प्रक्रिया में अंजाम दिया है। मालिकाना मिलने के बाद बड़े मालिक किसान अब पूँजी लगाकर बाज़ार के लिए पैदा कर रहे हैं और अपने खेतों में उजरती मज़दूरों की श्रमशक्ति निचोड़ रहे हैं। सामन्ती जमीन्दारों का एक हिस्सा भी अपने तौर-तरीकों को बदलकर पूँजीवादी भूस्वामी बन गया है। छोटे-मँझोले मालिक किसानों का बड़ा से बड़ा हिस्सा पूँजी की मार से उजड़कर सर्वहारा की कतारों में शामिल हो रहा है और गाँवों-शहरों की सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी आज लगभग कुल आबादी की आधी तक पहुँच रही है।

यह एक विस्तृत चर्चा का विषय है, लेकिन इतनी चर्चा से भी यह बात समझ में आ जाती है कि भारत कुल मिलाकर एक पूँजीवादी देश बन चुका है। यह स्वतंत्र पूँजीवादी देश नहीं है, यहाँ का शासक पूँजीपति, साम्राज्यवादियों का जूनियर पार्टनर है और यह एक ऐसा पिछड़ा हुआ पूँजीवादी देश है जहाँ अभी भी सामन्ती अवशेष मौजूद हैं। भारत और तीसरी दुनिया के अधिकांश पिछड़े देशों में आज एक नये प्रकार की समाजवादी क्रान्ति ही सम्भव है। सामन्तवाद अवशेष मात्र के रूप में रह गया है। मुख्य अन्तरविरोध श्रम और पूँजी के बीच का अन्तरविरोध है।

बीसवीं शताब्दी में, 1917 की रूसी समाजवादी क्रान्ति के बाद विश्व पूँजीवाद के विरुद्ध विश्व सर्वहारा क्रान्ति का ज्वार जब आगे बढ़ा तो क्रान्तिकारी तूफानों का केन्द्र वे देश बने जा उपनिवेश या अर्द्धउपनिवेश थे। वहीं लूट और शोषण का दबाव अधिक था और इन्हीं कमजोर कड़ियों को टूटना था। इन सभी देशों में राष्ट्रीय मुक्ति का प्रश्न तब केन्द्रीय प्रश्न था और पूँजीपतियों का एक हिस्सा भी तब साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में उतरने के लिए तैयार था क्योंकि राजनीतिक आज़ादी के बिना वह अपने विकास की कोई सम्भावना नहीं देख रहा था। उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों के पिछड़े कृषि-प्रधान समाजों में दूसरा प्रधान प्रश्न था सामंती भूमि-सम्बन्धों के खात्मे का, जो समूची किसान आबादी का सवाल था। सामन्ती भूस्वामी ही विदेशी सत्ता के मुख्य सामाजिक अवलम्ब थे। इसलिए सामन्तवाद-विरोध और साम्राज्यवाद-विरोध के ये दोनों अन्तरविरोध परस्पर गुँथे-बुने थे। 1970 के आसपास तक अधिकांश उपनिवेश राजनीतिक स्वतंत्रता हासिल कर चुके थे और वहाँ पूँजीवादी विकास का काम आगे बढ़ चुका था। नवें दशक तक नवउपनिवेशों की स्थिति में भी काफी परिवर्तन आ चुके थे और सैनिक तानाशाहियों की जगह वहाँ सीमित जनवाद की बहाली हो चुकी थी। जैसा कि हमने ऊपर चर्चा की है, ये भूतपूर्व उपनिवेश और नवउपनिवेश ही आज भी क्रान्तियों के तूफानों के केन्द्र हैं, पर इनकी वर्गीय सामाजिक संरचना बदल चुकी है।

फरानी क्रान्तियों के अन्धानुकरण और कठमुल्लेपन के शिकार लोग कहते हैं कि चूँकि हम आज भी साम्राज्यवाद के युग में ही जी रहे हैं, इसलिए हमारी क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल आज भी वही होंगे जो 1920 में, 1940 में या 1960 मे होते। वे कहते हैं कि बीसवीं शताब्दी की महान क्रान्तियों के नेतृत्व ने यही कहा था कि एशिया-अफीका-लातिन अमेरिका के

देशों में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियाँ और यूरोप-अमेरिका में समाजवादी क्रान्तियाँ–विश्व क्रान्ति के ये दो संघटक अवयव होंगे। हमारा कहना है कि यह क्रान्ति का मार्गदर्शक सिद्धान्त नहीं, बल्कि मौजूद परिस्थितियों का मूल्यांकन है। इससे बँधना जूते के हिसाब से पैर काटने के समान होगा। परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं। साम्राज्यवाद का युग मौजूद है, लेकिन उपनिवेशवाद-नवउपनिवेशवाद का दौर बीत चुका है। पूँजीपति वर्ग का कोई भी हिस्सा आज क्रान्तिकारी नहीं रह गया है। अपनी जरूरत और बाध्यता के दबाव में वह साम्राज्यवादियों का जूनियर पार्टनर बन चुका है। इन देशों के भीतर भूमि-सम्बन्ध भी बदल चुके हैं। सामन्ती तत्व महज अवशेष के रूप में मौजूद हैं। बड़े मालिक किसान अब शोषण और शासन में साम्राज्यवादियों और देशी पूँजीपतियों के साथ छोटे हिस्सेदार बन चुके हैं। वे लड़ रहे हैं तो लूट में अपनी भागीदारी बढ़ाने के लिए। उनका संकट शोषण के छोटे हिस्सेदार का संकट है। अब इन देशों में भी मुक्ति की परियोजना एक समाजवादी परियोजना ही हो सकती है।

साथ ही, हमारा यह भी कहना है कि इन देशों की समाजवादी क्रान्तियाँ वैसी भी नहीं होंगी जैसी रूस में हुई थी। यहाँ पूँजीवाद का विकास रूस से भिन्न रास्ते से हुआ है। इस भिन्नता का एक मूल कारण औपनिवेशिक अतीत के चलते है और दूसरा मूल कारण इस नाते है कि आज की दुनिया 1917 के समय की दुनिया से काफी भिन्न है। रूस विकसित पश्चिम और पिछड़े पूरब की सन्धिबिन्दु पर खड़ा देश था। दूसरे, प्रथम विश्वयुद्ध के चलते भी वहाँ अपवादस्वरूप, क्रान्ति की अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी थीं। तीसरे, जारशाही के पतन के बाद कायम पूँजीवादी सत्ता न तो स्थिर हो पायी थी न ही अपने जड़ों को मजबूत बना पायी थी। उसका सामाजिक आधार भी काफी संकुचित था। रूस पर साम्राज्यवादी दबाव तो था, पर वहाँ का शासक वर्ग साम्राज्यवादसे उसतरह नत्थी नहीं था, जैसी आज भारत के पूँजीवाद की स्थिति है। भारत के पूँजीवाद का सामाजिक आधार काफी विस्तृत है। धनी किसानों और नौकरशाही तंत्र से जुड़े उच्च मध्यवर्ग व अन्य परजीवी वर्गों के रूप में इसके शक्तिशाली सामाजिक अवलम्ब मौजूद हैं। पूँजीवादी विकास के चलते यातायात-संचार का तंत्र काफी विकसित है और राज्यसत्ता की पकड़ सुदूर क्षेत्रों तक काफी व्यापक है। यह केवल राजधानी और बड़े शहरों तक सिकुड़ी-सिमटी नहीं है। इसके चलते रणकौशलों और भावी क्रान्ति के रास्ते को लेकर, रूस के काफी भिन्नताएँ पैदा हो चुकी हैं। यह अलग से एक विस्तृत चर्चा का विषय है, लेकिन आम नतीजे के तौर पर, यह समझना कठिन नहीं है कि अब जो साम्राज्यवाद-विरोधी पूँजीवाद-विरोधी समाजवादी क्रान्तियाँ होंगी, वे नये प्रकार की समाजवादी क्रान्तियाँ होंगी।

●

इन परिवर्तनों की अनदेखी करके और विगत क्रान्तियों के पदचिह्नों का अन्धानुकरण करक नयी क्रान्तियों की तैयारी नहीं की जा सकती। अतीत की क्रान्तियों का अध्ययन करके उनसे समानता और भिन्नता के मुद्दों को जानना होगा और जरूरी सबक लेने होंगे, लेकिन ठोस परिस्थितियों का ठोस अध्ययन करके यह समझना आज का प्रमुख कार्यभार है कि आज की नयी क्रान्तियों में नया क्या है? क्रान्तिकारियों की युवा पीढ़ी को नयी राह बनाने की चुनौतियाँ स्वीकारनी ही होंगी। पुरानी क्रान्तियों के आम निष्कर्षों को कुछ फार्मूलों के रूप में अपनाकर कुछ रूटीनी कवायद करते रहने की प्रवृत्ति को, अतीत की महान क्रान्तियों का अन्धानुकरण करने की प्रवृत्ति को हम क्रान्ति के रास्ते की एक प्रमुख बाधा के रूप में देखते हैं क्योंकि यह प्रवृत्ति आज हावी है। यह क्रान्ति के विज्ञान को समझने और विकसित करने से जी चुराना है और महज क्रान्तिकारी आशावाद और उत्साह के सहारे क्रान्ति कर लेने की ख़ामख़याली में जीना है।

इसीलिए हम ज़ोर देकर यह कहते हैं कि उम्मीद को महज एक भावना के रूप में ज़िन्दा रखना काफी नहीं है। आशावाद को एक वैज्ञानिक आधार देना होगा। जड़सूत्रवाद से बचने के लिए क्रान्ति के विज्ञान को समझना होगा और अपनी वैज्ञानिक समझ के सहारे अपने देश-काल की परिस्थितियों को समझकर नयी क्रान्तियों की राह निकालनी होगी।

यह क्रान्तिकारियों की युवा पीढ़ी का सर्वोपरि ऐतिहासिक कार्यभार है!

अगले अंक में : छात्र-नौजवान नयी शुरुआत कहाँ से करें? क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन की नयी दिशा क्या होगी, रास्ता क्या होगा, मुख्य मुद्दे क्या होंगे और स्वरूप क्या होगा? छात्र-युवा आन्दोलन के सामने नये हालात में कौन-कौन सी ठोस नयी समस्याएँ आ खड़ी हुई हैं?

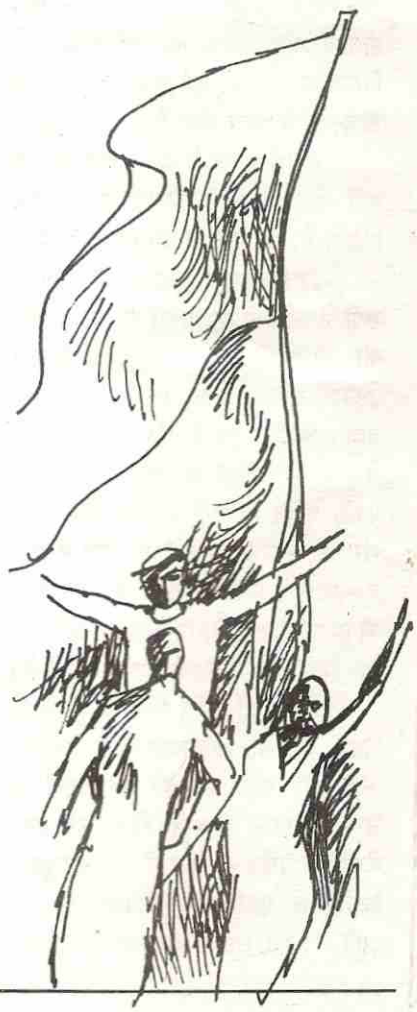

नया वर्ष नए सपनों, नई उड़ानों, नए संघर्षों के नाम

31 दिसम्बर, करावलनगर; दिल्ली। नववर्ष की पूर्वसंध्या पर दिल्ली के करावलनगर इलाके में 'नौजवान भारत सभा' ने एक सांस्कृतिक कार्यक्रम के माध्यम से अपना सन्देश वहाँ के बाशिन्दों तक पहुँचाया। इस सांस्कृतिक संध्या को नाम दिया गया था–'नया वर्ष नए सपनों, नई उड़ानों, नए संघर्षों के नाम।'

एक क्रान्तिकारी गीत के बाद कार्यक्रम की शुरुआत करते हुए **करावलनगर नौजवान भारत सभा** के संयोजक **कपिल स्वामी** ने नौजवान दिलों का आह्वान किया कि वे इस साल ज़िन्दगी के फराने ढर्रे को छोड़कर समाज को बदलने की राह चुनें और सही मायनों में जनता का राज लाने और भगत सिंह के सपनों को साकार करने के लिए अपना जीवन दें। इसके बाद नौजवान भारत सभा के सांस्कृतिक दस्ते ने 'आ गए यहाँ जवाँ कदम' नामक **गीत** प्रस्तुत किया। दो नाटक भी पेश किए गए। पहला था **'सरकारी साँड़'** और दूसरा था **असगर वजाहत** द्वारा लिखित **'देश को आगे बढ़ाओ'**। इन दोनों नाटकों में चुनावबाज नेताओं की कारस्तानियों और जनविरोधी हरकतों को दिखलाया गया था। 'सरकारी साँड़' में भ्रष्ट नेता की सीनाजोरी और ढोंग और फिर जनता द्वारा उसके खदेड़े जाने को देखकर दर्शकों की भीड़ को खूब आनन्द आया। 'देश को आगे बढ़ाओ' में दिखाया गया कि कैसे नेता देश के विकास के नाम पर अपना विकास करते हैं। इस नाटक को भी काफी पसन्द किया गया।

अन्य सांगीतिक प्रस्तुतियों में **'ऐ इंसानों ओस न चाटो'**, **'शहीदों का गीत'**, भोजपुरी गीत **'बड़ी-बड़ी कोठिया सजाए पूंजीपतिया'**, और बंगाली गीत **'बीस्तीर्णो दुपारेर'** जैसे गीत शामिल थे।

नौजवान भारत सभा के **अभिनव** ने अपने वक्तव्य में कहा कि जनता का रास्ता इलेक्शन नहीं इन्कलाब है। अभिनव ने जोर दिया कि थैलीशाहों के पूँजी के राज को उखाड़ फेंकना और मेहनतकश के लोकस्वराज्य को स्थापित करना आज छात्र-युवा आन्दोलन का प्रमुख कार्यभार है। उन्होंने इस बात की ओर भी ध्यान दिलाया कि भ्रष्टाचार का मामला ऐसा है जिसमें सारे चुनावबाज नंगे हैं और एक-दूसरे को 'नंगा-नंगा' कह रहे हैं, जैसा कि जोगी-जूदेव मामले में देखने को मिलता है।

अंत में दर्शकों की माँग पर 'सरकारी सांड़' का मंचन दोबारा किया गया। फिर कपिल ने समापन वक्तव्य रखते हुए कहा कि नौजवान भारत सभा की अगामी योजनाओं में शहीद भगत सिंह **पुस्तकालय खोलना, सुधार कार्रवाइयाँ करना,** शहादत दिवस मनाना आदि शामिल है और इन सारे कामों के लिए आम लोगों का सहयोग आवश्यक है। नौजवान भारत सभा के इस नारे के साथ उन्होंने बात समाप्त की–

नौजवान भारत सभा का है संकल्प
खड़ा करेंगे क्रान्तिकारी विकल्प।।

–कपिल

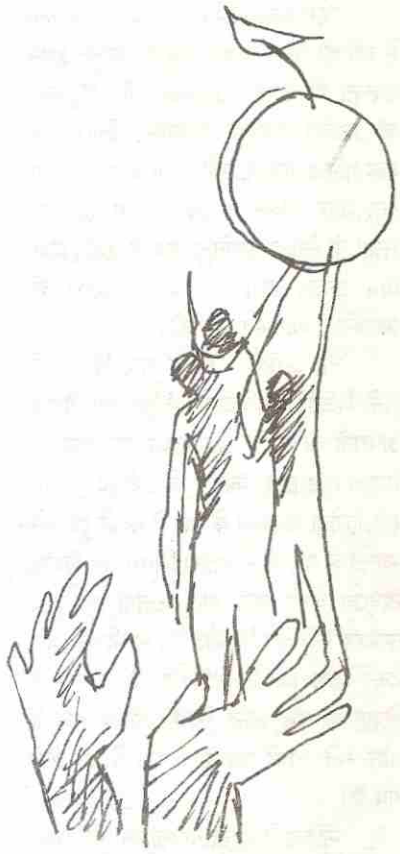

हरियाणा और उत्तर प्रदेश में व्यापक पैमाने पर लोक स्वराज्य अभियान

हरियाणा में सोनीपत, पानीपत, करनाल, रोहतक, कुरुक्षेत्रा, और उत्तर प्रदेश में **गोरखफर, देवरिया, बस्ती, बनारस, लखनऊ, बाराबंकी, कानफर, इलाहाबाद** और आस-पास के इलाकों में दिसम्बर और जनवरी में घनीभूत रूप से लोकस्वराज्य अभियान चलाया गया। लोकस्वराज्य अभियान कई जनसंगठन मिलकर चला रहे हैं। इनमें छात्रों, युवाओं, मज़दूरों, निम्न किसानों, महिलाओं, और जनपक्षधर बुद्धिजीवियों के संगठन शामिल हैं। लोक स्वराज्य अभियान के दस्तों ने ट्रेन के डिब्बों में, चौराहों पर, घर-घर जाकर, और प्रभात-फेरियां निकालकर अपना संदेश लोगों तक पहुँचाया और पर्चे बाँटे। लोकस्वराज्य अभियान के प्रवक्ता ने बताया कि इस अभियान का लक्ष्य है इस देश से धनपतियों के राज को उखाड़ फेंका जाये और जनता के लोकस्वराज्य को स्थापित किया जाए। लोकस्वराज्य से तात्पर्य एक ऐसी व्यवस्था से है जिसमें राज-काज और उत्पादन के पूरे ढाँचे पर उत्पादन करने वाले आम वर्गों का हक होगा और निर्णय लेने की ताकत उनके हाथों में होगी। लोक स्वराज्य दस्ते का नारा था–

खतम करो पूँजी का राज
लड़ो बनाओ लोकस्वराज

जनता के बीच अभियान का व्यापक पैमाने पर स्वागत हुआ। लोगों ने अभियान को काफी सहयोग किया। ट्रेन अभियान में मिलने वाले यात्रियों ने अपने शहर में आने का आग्रह किया। कुछ नागरिकों ने कहा कि आज के युवाओं से उन्हें यही उम्मीद थी। यदि इस देश के युवा आगे आएंगे तो इस देश को अन्धेरे से उजाले में लाया जा सकता है। लोक स्वराज्य अभियान के दौरान सांस्कृतिक कार्यक्रम भी हुए।

दिल्ली विश्वविद्यालय में दिशा छात्र संगठन द्वारा व्याख्यान का आयोजन

स्त्री-अधिकारों और अस्मिता पर बढ़ते हमलों के कारण मानवद्रोही व्यवस्था में निहित

-अरविन्द जैन

"इस समाज और व्यवस्था की सीमाओं में स्त्री की मुक्ति सम्भव नहीं है। कानून इसमें अशक्त ही रहेगा। राजसत्ता और पितृसत्ता का अपवित्र गँठजोड़ भी कायम रहेगा।" यब बात प्रसिद्ध वकील, स्त्री प्रश्नों के गम्भीर अध येता और चर्चित फस्तक 'औरत होने की सजा' के लेखक अरविन्द जैन ने कही। दिशा छात्र संगठन द्वारा 21 नवम्बर, 2003 को आयोजित व्याख्यान में कही।

श्री अरविन्द जैन ने कहा कि पिछले दिनों दिल्ली विश्वविद्यालय में हुए स्त्री-विरोधी अपराधों को समाज से काटकर नहीं देखा जा सकता। उन्होंने कानून में मौजूद तमाम स्त्री-विरोधी प्रावधानों के बारे में बताते हुए ऐसे मामलों के बारे में भी बताया जिसमें स्त्री-विरोधी अपराध करने वाले ढीले कानूनों का लाभ उठाकर कैसे बच निकलते हैं। श्री जैन ने जोर देकर कहा कि उत्तराधिकार के कानूनों में स्त्रियों के प्रति स्पष्ट भेदभाव बरता गया है और सारे फायदे फरुषों के पक्ष में कर दिये गये हैं।

मीडिया में बढ़ती नग्नता की ओर ध्यान खींचते हुए उन्होंने कहा कि स्त्री-विरोधी अपराधों के बढ़ने के पीछे यौन-कुण्ठित समाज का भी बहुत बड़ा हाथ होता है। गौरतलब है कि समूचे इलेक्ट्रानिक मीडिया के 90 फीसदी पर उस रुपर्ट मर्डक का कब्जा है जो पहले ब्रिटेन में पोर्नोग्राफिक पत्रिकाएँ छापता था।

लेकिन इस बढ़ती नग्नता से पितृसत्ता के लिए भी एक संकट पैदा हुआ है। अरविन्द जी ने बताया कि पितृसत्ता और पूँजीवाद के बीच एक गठजोड़ है। पितृसत्ता को अपने उत्पाद के प्रचार और बिक्री के लिए तो 'बोल्ड एण्ड ब्यूटीफुल' लड़कियाँ चाहिये लेकिन अपने घर में पारम्परिक भारतीय नारी। मगर वह 'बोल्ड एण्ड ब्यूटीफुल' लड़की का आदर्श तो उसके घर में भी टेलीविजन के माध्यम से आ रहा है और उसके घर की लड़की की तमन्ना भी वैसा ही 'बोल्ड एण्ड ब्यूटीफुल' बनने की हो रही है। यह एक दुष्चक्र है जिसमें पितृसत्ता का रथ फँस गया है।

अंत में श्री अरविन्द जैन ने नौजवानों से कहा कि उनका पूरा अस्तित्व मेहनतकश आबादी का कर्जदार है। उनकी शिक्षा में लगा 95 फीसदी पैसा मेहनतकशों का है। उनकी सारी जरूरतें भी यही वर्ग पूरा करता है तो क्या यह अनुचित नहीं है कि छात्र आज के समय में सिर्फ अपना कैरियर बनाने में जुटे रहें? श्री जैन ने कहा कि आज समाज बड़ी उम्मीदों के साथ युवाओं को देख रहा है और युवाओं को व्यवस्था को बदलने का काम अपने हाथों में लेना होगा।

कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहीं कवयित्री सामाजिक कार्यकर्त्ता कात्यायनी ने तमाम छात्राओं से कहा कि अपनी मुक्ति की लड़ाई उन्हें खुद लड़नी होगी और हिम्मत करके आगे आना होगा। उन्होंने कहा कि स्त्री मुक्ति आन्दोलन हो या दलित मुक्ति आन्दोलन या किसी भी दबायी गयी कौम का आन्दोलन, इन सबका कोई भी भविष्य मेहनतकशों की मुक्ति के आन्दोलन से जुड़कर ही है। अलग-अलग रहकर ये आन्दोलन किसी भी मुकाम पर नहीं पहुँचेंगे। उन्होंने सभी छात्रों का आह्वान किया कि वे अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करना सीखें और विद्रोह से क्रान्ति की ओर आगे बढ़ना सीखें।

कार्यक्रम का संचालन कर रहे **'दिशा'** के संयोजक **अभिनव** ने कहा कि स्त्री अधिकारों पर बढ़ते हमलों से सरोकार सिर्फ स्त्रियों का ही नहीं है बल्कि हर संवेदनशील नागरिक का है। स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण समाज के विकास की मंजिल के बारे में बहुत कुछ बता देता है। सामन्तवाद में अगर स्त्रियाँ गुलाम थीं तो पूँजीवाद ने उन्हें पूरी तरह बिकाऊ माल और भोग की वस्तु बना दिया है। हम इन दोनों ही स्थितियों को अस्वीकार करते हैं। इन समस्याओं का समाधान आमूल सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के साथ ही सम्भव है।

'दिशा' के सांस्कृतिक दस्ते ने 'आ गये यहाँ जवाँ कदम' और ' ऐ इंसानों ओस न चाटो' जैसे गीत प्रस्तुत किए। कार्यक्रम में बड़ी संख्या में छात्रों ने हिस्सा लिया और प्रश्नोत्तर सत्र में वक्ता से कई महत्वपूर्ण प्रश्न पूछे। समय सीमा होने के कारण कई प्रश्न अनुत्तरित ही रह गये। लेकिन दिशा के अमित ने कहा कि संवाद यहीं खत्म नहीं होता। हम आगे भी इस तरह के व्याख्यानों और गोष्ठियों का आयोजन करेंगे और प्रश्नों के उत्तर मिलकर ढूँढेंगे।

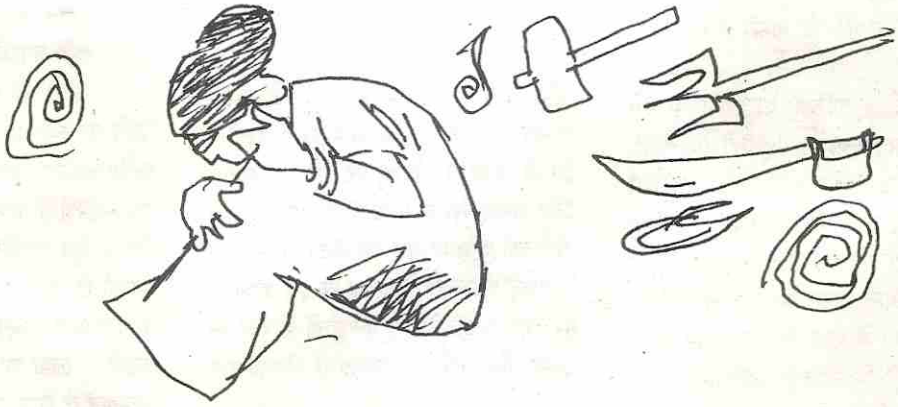

भगतसिंह, राजगुरू, सुखदेव के शहादत दिवस (२३ मार्च) के अवसर पर

यह युद्ध पूँजीवाद के ख़िलाफ़ है...

... हम यह कहना चाहते हैं कि युद्ध छिड़ा हुआ है और यह युद्ध तबतक चलता रहेगा, जबतक कि शक्तिशाली व्यक्ति भारतीय जनता और श्रमिकों की आय के साधनों पर अपना एकाधिकार जमाये रखेंगे। चाहे ऐसे व्यक्ति अंग्रेज़ पूँजीपति, अंग्रेज़ शासक या सर्वथा भारतीय ही हों। उन्होंने आपस में मिलकल एक लूट जारी कर रखी है। यदि शुद्ध भारतीय पूँजीपतियों के द्वारा ही निर्धनों का खून चूसा जा रहा हो तब भी इस स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि आप कीं सरकार कुछ नेताओं या भारतीय समाज के कुछ मुखियाओं पर प्रभाव जमाने में सफल हो जाये, कुछ सुविधाएँ मिल जायें या समझौते हो जायें, उससे भी स्थिति नहीं बदल सकती। जनता पर इन सब बातों का प्रभाव बहुत कम पड़ता है।

इस बात की भी हमें चिन्ता नहीं है कि एक बार फिर युवकों को धोखा दिया गया है और वे समझौते की बातचीत में इन निरपराध, बेघर और निराश्रित बलिदानियों को भूल गये हैं जिन्हें क्रान्तिकारी पार्टी का सदस्य समझा जाता है। हमारे राजनीतिक नेता उन्हें अपना शत्रु समझते हैं, क्योंकि उनके विचार से वे हिंसा में विश्वास रखते हैं। हमारी वीरांगनाओं ने अपना सब कुछ बलिदान कर दिया है। उन्होंने बलिवेदी पर अपने पतियों को भेंट किया, उन्होंने अपने आप को न्योछावर कर दिया, परन्तु आपकी सरकार उन्हें विद्रोही समझती है। आपके एजेण्ट भले ही झूठी कहानियाँ गढ़कर उन्हें बदनाम कर दें और पार्टी की ख्याति को हानि पहुँचाने का प्रयास करें किन्तु यह युद्ध चलता रहेगा। हो सकता है कि युद्ध भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न स्वरूप ग्रहण करे। कभी यह युद्ध प्रकट रूप ले ले, कभी गुप्त दशा में चलता रहे, कभी भयानक रूप धारण कर ले, कभी किसान के स्तर पर जारी रहे और कभी यह युद्ध इतना भयानक हो जाये कि जीवन और मरण की बाजी लग जाये। चाहे कोई भी परिस्थिति हो, इसका प्रभाव आप पर पड़ेगा।

यह आपकी इच्छा है कि आप जिस परिस्थिति को चाहें चुन लें, परन्तु यह युद्ध चलता रहेगा। इसमें छोटी-छोटी बातों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। बहुत सम्भव है कि यह युद्ध भयानक स्वरूप धारण कर ले। यह उस समय तक समाप्त नहीं होगा जब तक कि समाज का वर्तमान ढाँचा समाप्त नहीं हो जाता, प्रत्येक व्यवस्था में परिवर्तन या क्रान्ति नहीं हो जाती और सृष्टि में एक नवीन युग का सूत्रपात नहीं हो जाता।

निकट भविष्य में यह युद्ध अन्तिम रूप में लड़ा जायेगा और तब यह निर्णायक युद्ध होगा। साम्राज्यवाद एवं पूँजीवाद कुछ समय के मेहमान हैं। यही वह युद्ध है जिसमें हमने प्रत्यक्ष रूप में भाग लिया है। हम इसके लिये अपने पर गर्व करते हैं कि इस युद्ध को न तो हमने प्रारम्भ ही किया है, न यह हमारे जीवन के साथ समाप्त ही होगा। हमारी सेवाएँ इतिहास के उस अध्याय के लिये मानी जायेंगी, जिसे यतीन्द्रनाथदास और भगवतीचरण के बलिदानों ने विशेष रूप से प्रकाशमान कर दिया है। इनके बलिदान महान हैं।

(फाँसी से तीन दिन पूर्व भगतसिंह, राजगुरू, सुखदेव द्वारा फाँसी के बजाय गोली से उड़ाये जाने की माँग करते हुए पंजाब के गवर्नर को लिखे गये पत्र का एक अंश)

खत्म करो पूंजी का राज!
लड़ो, बनाओ लोक स्वराज!

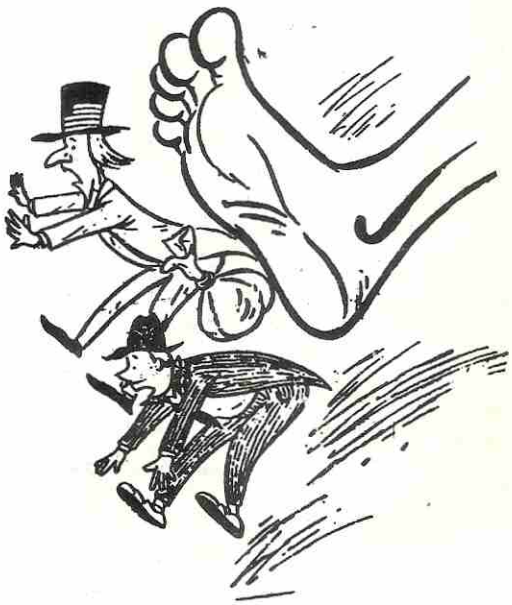

गांव-गांव में अलख जगाकर
विदेशी लूट मिटाएंगे
देशी कफनखसोटों को भी
लड़कर मार भगाएंगे
कसम शहीदों की भारत में
लोक स्वराज बनाएंगे

"...हम मानते हैं कि नये सिरे से सब कुछ शुरू करना होगा। मेहनतकश जनता के राज्य और समतामूलक समाज के निर्माण की परियोजनाओं को पुनर्जीवित करना होगा। पूरी दुनिया के पैमाने पर, पिछली सदी के आखिरी चौथाई हिस्से के दौरान मेहनतकशों के इंकलाबों का कारवां रुक-सा गया है और भटका और बिखरा भी है। पूंजीवादी लूट और हुकूमत के तौर-तरीकों में भी अहम बदलाव आये हैं। उन्हें समझना होगा और नई क्रान्तियों की राह निकालनी होगी। यह कठिन है पर असम्भव नहीं। हर नया काम कठिन लगता है। हर नई शुरुआत मजबूत संकल्पों की मांग करती है। इतिहास के हजारों वर्षों के सफर का यह सबक है और पूंजीवादी लूटतंत्र के असाध्य संकटों और लाइलाज बीमारियों को देखते हुए यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि पराजय झेलने के बाद क्रान्तियां फिर से परवान चढ़ेंगी। यह सदी नई, फैसलाकुन क्रान्तियों की सदी होगी।

यह हमारा दृढ़ विश्वास है और इस विश्वास के पर्याप्त कारण हैं कि भारत की मेहनतकश जनता भी इस नये विश्व-ऐतिहासिक महासमर में पीछे नहीं रहेगी, बल्कि अगली कतारों में रहेगी। 85 फीसदी लोगों के दुखों और बर्बादियों के सागर में 15 फीसदी लोगों के समृद्धि के टापू और उन पर खड़ी विलासिता की मीनारें हमेशा के लिए कायम नहीं रह सकती। यह तूफान के पहले का सन्नाटा है। इसीलिए हुक्मरान बेचैन हैं। तरह-तरह के नये-नये काले कानून बनाकर, पुलिस-फौज को चाक-चौबन्द करके वे निश्चिन्त होना चाहते हैं, पर हो नहीं पाते। उन्हें लगने लगा है कि आम जनता को बांटने-बरगलाने के लिए उछाले जाने वाले मुद्दे और छोड़े जाने वाले शिगूफे भी बहुत दिनों तक काम नहीं आयेंगे। पूंजीवादी जनतंत्र की कलई चारों ओर से उतर रही है। नया रंग-रोगन टिकता नहीं। इसलिए भारत की पूंजीवादी राज्यसत्ता फासिस्ट निरंकुशशाही की ओर खिसकती जा रही है।

इसलिए, 'क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान' के जरिए हम इतिहास को गढ़ने वाले और अपने बलिष्ठ हाथों से समय के प्रवाह को मोड़ देने वाले मेहतनकश अवाम के पराक्रम को ललकार रहे हैं और एक नई, कठिन और निर्णायक लड़ाई की तैयारी में शामिल होने के लिए उन तमाम लोगों को निमंत्रण दे रहे हैं, जिनकी आत्माएं युवा हैं, जो सच्चे अर्थों में जिन्दा हैं।"

दिशा छात्र संगठन, बिगुल मज़दूर दस्ता, देहाती मज़दूर-किसान यूनियन, नारी सभा, दार्शित्वबोध मंच और नौजवान भारत सभा की ओर से पिछले छह वर्षों से चलाये जा रहे **क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान** के पर्चा के अंश